UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180626

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 V13 Pa Accession No. G. H. [illegible]80

Author वाजपेयी, [illegible]वतीप्रसाद

Title पतिता की साधना १९३८

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य-सरोज-माला नं० २

पतिता की साधना

[मौलिक सामाजिक उपन्यास]

लेखक
यशस्वी कहानीकार और उपन्यास-लेखक
पण्डित भगवतीप्रसाद वाजपेयी

विक्रेता
छात्रहितकारी पुस्तकमाला-कार्यालय
दारागंज, प्रयाग

द्वितीय संस्करण] अगस्त १९३८ [मूल्य २)

प्रकाशक

साहित्य-सरोज-माला

दारागंज, प्रयाग

मुद्रक

श्रीरघुनाथप्रसाद वर्मा,

नागरी प्रेस, दारागंज,

प्रयाग।

अपनी बात

अपने स्रष्टा तक की रचना के सम्बन्ध में लोग नाना प्रकार के विचार प्रकट किया करते हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग तो उसके प्रति अविश्वासी भी हो बैठते हैं। परन्तु इससे उस स्रष्टा का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लोग बका करते हैं, किन्तु वह उन सबको ग्रहण करता हुआ, विशेष रूप से उन बातों के सम्बन्ध में, कभी क्रियाशील नहीं होता। यह बात दूसरी है कि वह कभी मुसकुरा देता है और कभी कुछ अधिक गम्भीर भी हो उठता है। किन्तु उसकी रचना पर किसी के विद्रोह का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मैं स्वीकार करता हूँ कि साहित्यकार की पद-मर्यादा भी ऐसी ही है।

तो भी दो बातें मैं यहाँ कहना चाहता हूँ।

जो लोग आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रगति के कर्णधार हैं, उनमें से अधिकांश लोग आज एक आँख से देख रहे हैं। दूर की चीज़ को एक आँख से देखें, तो शिकायत की गुंजाइश नहीं। वह तो दूरदर्शिता का एक विधान है। किन्तु जो चीज़ अपने निकट की है; अपनी भाषा, अपने साहित्य की है, उसे एक आँख से क्यों देखा जाय ?

आज हिन्दी में दलबद्ध प्रचारवाद का राज्य है। साहित्य को प्रचारवाद की अपेक्षा होती है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु जहाँ से यह प्रचारवाद हिन्दी में आया है, वहाँ Journalist और Artist में पृथक्-पृथक् पद-मर्यादाएँ भी हैं। वहाँ पत्रकार और साहित्यकार एक डंडे से नहीं हाँके जाते। किन्तु आज तो पत्रकार हमारे कलाकारों के Guide हो रहे हैं। चाहिए तो यह था कि वे उनको समझने की चेष्टा करते, उन्हें खोज निकालते और उनकी संवर्द्धना करते। किन्तु होता यह है कि यथार्थ रूप के हमारे कुछ साहित्यकार पत्रकारों के दलबद्ध प्रचारवाद की चक्की में बुरी तरह से पिस जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो लोग सस्ती प्रतिष्ठा के लोभ को संवरण न करके, प्रचारवादी पत्रकारों के दल में जा मिलते हैं, वे तो आपके सामने आ जाते हैं और जो लोग चुपचाप बैठे एक साधना में निरत रहते हैं, वे पीछे पड़ते-पड़ते एक दिन मिट जाते हैं !

हिन्दी के साहित्यकार को आज मिलता ही क्या है ? आज हिन्दी के पाठकों में अधिकांश ऐसे लोग हैं, जो साहित्य की प्यास को उतना भी मूल्य देना नहीं चाहते, जितना चाट खा लेने, कार्नीवाल या सिनेमा देखने को। बात यह है कि हमारे पत्रकारों ने हिन्दी के साहित्य पर क्षुद्रता की छाप लगा रक्खी है। वे किसी के सम्बन्ध में एक तो कभी लिखेंगे नहीं। लिखेंगे भी, तो उस साहित्यकार के समुचित अध्ययनाभाव के कारण इतना दब कर कि उसका कोई प्रभाव न होगा।—सो भी केवल उनके संबन्ध में, जो निरन्तर उनके निकट रहते या सामने आते रहते हैं। उनकी इस नीति का फल यह हुआ है कि हिन्दी के उत्कृष्ट साहित्य की यथेष्ट बिक्री न होने के कारण किसी प्रोफ़ेसर की मासिक आय के बराबर भी, हमारे साहित्यकार अपनी उस कृति पर नहीं पाते, जिसकी रचना करने में उनके वर्ष-के-वर्ष लग जाते हैं !

यह अवस्था है हमारे साहित्यकारों की आय की। प्रचार के सम्बन्ध में मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ। इन दोनों ही परिस्थितियों के बीच में पिसनेवाले लेखक की यह रचना आपको कहाँ तक प्रिय होगी, वह नहीं जानता। लेकिन इतना वह अवश्य जानता है कि इस उपन्यास की नन्दा, इसका हरि, एक-न-एक दिन आपकी निद्रा भंग कर देने का कारण बनेगा—अवश्य बनेगा।

कल्पना तो अमूर्त वस्तु है; किन्तु कलाकार के पास पहुँचकर

वह साकार हो जाती है। लोग Fiction को खिलवाड़ समझ सकते हैं; क्योंकि वे उससे केवल Enjoy करना जानते हैं। किन्तु कोई भी शाश्वत भावना—कोई भी अमर कल्पना—खिलवाड़ नहीं हुआ करती; क्योंकि उसका उद्भव स्रष्टा की क्षण-क्षण की आन्तरिक अनुभूति के योग से होता है। अतएव जो लोग कथा-साहित्य को केवल घड़ी-दो-घड़ी के मनोरंजन की चीज़ समझ बैठते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि जो विचार लेखक से उसने पाये हैं, वे यदि उसके भीतर टिक सके हैं, तो यह बात उस लेखक के लिए कम Credit की नहीं है। मेरी धारणा है कि इस रचना से पाठकों का यथेष्ट मनोरंजन तो होगा ही; उनकी विचार-धारा को सजग करने की प्रेरणा भी उन्हें इससे कम न मिलेगी।

धनतेरस १९९३
दारागंज, प्रयाग

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

पतिता की साधना

[१]

कानपुर के जिस मुहल्ले की यह घटना है, वह अपने नाम से ही प्रसिद्ध है। आचार-हीन अथवा यों समझ लीजिये कि सरस वार्तालाप के लोभी युवक उस मुहल्ले का नाम सुनकर एक प्रकार के कुतूहल से भर जाते हैं। आर्य-ललनाएँ और फूँक-फूँककर पैर रखनेवाले विचारशील पुरुष उस नाम को सुनकर, कुत्सित मनोभावों में भरकर, अपरूप भंगियों में, अस्थिर होकर उबल पड़ते हैं। इस मुहल्ले ने कितनी सती-साध्वी नारियों का सर्वस्व अपहरण किया, कितने युवकों का प्राण संकट में डालकर, उनके पूर्वजों की श्रमसाध्य कमाई का अमित धन, धीरे-धीरे, पाई-पाई करके, सभी कुछ, निकलवा लिया और फिर उन्हें कितना दीन-हीन और जीर्ण-जर्जर करके द्वार-द्वार का भिक्षुक बना डाला, इन सब बातों का हिसाब-किताब किसके पास रक्खा है! तो भी जिन लोगों को कभी कानपुर जाने का अवसर मिला है, वे यदि भूल से भी नगर की इस कोलाहल-पूर्ण सड़क से गुज़रे हैं, तो उनसे भी इस मुहल्ले के इतिहास का मर्म छिपा ही रह गया है, यह नहीं कहा जा सकता।

हाँ, तो इसी मुहल्ले के भीतर की एक गली में, एक अन्धा साधु, भिक्षा माँगता हुआ, एक द्वार पर खड़ा था। उसके एक हाथ में सहारे की लकड़ी थी, दूसरे हाथ में वह भिक्षा की झोली कन्धे पर टाँगे हुए था। अवस्था तो उसकी चालिस के निकट जा पहुँची थी, पर शरीर से वह अभी खूब हट्टा-कट्टा और मज़बूत था। यद्यपि उसके आँखें नहीं थीं; फिर भी लकड़ी के सहारे, पैर चलने की ऊँची-नीची हरकतों से अभ्यस्त रहने के कारण, वह मीलों घूम लेता था। स्वर उसका बहुत कोमल था, बड़ा आकर्षक। उसके कण्ठ में जैसे अमृत घोल दिया गया था। वह गा भी लेता था। गाने का उसे अच्छा अभ्यास नहीं था; फिर भी गान-विद्या से वह थोड़ा-बहुत परिचित अवश्य था। सबसे बड़ी बात उसमें यह थी कि उमंग में आकर वह जब कभी गाने बैठता, तो चाहे संगीत-शास्त्र की शृङ्खलाएँ टूटतीं, चाहे रहतीं, वह अपने-आप खूब मस्त हो जाता। और उसकी वह मस्ती दर्शक के लिये यथेष्ट आकर्षक भी होती थी।

उसका गेहुँआ रंग था और उसकी नाक बड़ी सुन्दर थी। उसके दाँत यद्यपि दूध की भाँति निरे श्वेत-शुभ्र नहीं थे; तो भी कभी मिट्टी, कभी कोयला और कभी नीम की दाँतून से घिस-घिसकर वह दाँतों को साफ़ रखता था। न तो उनसे दुर्गन्ध आती थी और न देखनेवालों की दृष्टि में वे अप्रियतापूर्ण विकार ही उत्पन्न करते थे। वह मिल की मोटी धोती पहनता, सिर पर एक अँगोछा और बदन पर एक सलूका। बस, यही उसकी पोशाक थी।

लोग उसे कहते तो सूरदास थे, पर उसका असली नाम कुछ और था।

सावन का महीना था। पानी प्रायः रोज़ ही बरसता था। शहरवाले दूकानदार इस पानी से कुछ ऊब से उठे थे; क्योंकि कभी-कभी दिनभर बीत जाता, पर उनकी बोहनी न होती थी। इधर दो दिन से पानी नहीं बरसा था; इस कारण गरमी बढ़ गयी थी; क्योंकि दोनों दिन कई-कई घंटे कड़ी धूप स्थिर बनी रही थी। लेकिन उस समय चारों ओर बादल घिर आये थे। पवन कभी सतर्कता के साथ चलता, कभी कुछ इतराती हुई मस्ती बिखेरने लगता। धीरे-धीरे संध्या रानी दिवस प्यारे पर यह जो पवन-दोलन कर रही थीं; इस कारण प्रकृति की नैसर्गिक छवि के पुजारी सभ्य नागरिक लोग कुछ उत्तरंग से हो उठे थे।

उस घर के दरवाज़े से आटे की चुटकी पाकर सूरदास लौट ही रहा था कि अकस्मात् पानी बड़े वेग के साथ आगया। भीषण गर्जन-तर्जन को साथ लिये हुए वर्षा की निर्बाध टपटपाहट एका-एक चारों ओर ऐसी गुञ्जित हो उठी कि ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के निवासी तक आतंकित हो गये।

इसी क्षण सूरदास की झोली में आटा छोड़नेवाली प्रमदा ने मकान के भीतर और अधिक न जाकर लौटते हुए कह दिया—लो; अब तो पानी बरसने लगा सूरदास। आओ, ज़रा बैठ लो। इधर भीतर निकल आओ। पानी बन्द हो जाय, तो जाना।

इस नगर में रहते हुए सूरदास को अनेक वर्ष हो चुके हैं। किस मुहल्ले के किस घर में उसे भिक्षा मिलती है, किस में नहीं; इससे वह परिचित हो गया है। किन्तु उसका यह परिचय यहीं तक सीमित नहीं है। उसके भीतर मानव-हृदय की जो चेतना है, या यों समझ लीजिये कि उसकी जो अपनी एकान्त अनुभूति है, उसमें कुछ और भी है। तभी तो सूरदास को मालूम है कि किस कण्ठ का स्वर किस प्रकार का होता है। भिक्षा-प्रसंग का वार्तालाप ही क्या हो सकता है! तो भी भिक्षा देनेवाले के स्वर से ही सूरदास को उसकी प्रवृत्तियों, चेष्टाओं और भावना-लहरियों का बोध हो जाता है।

इस घर के अन्दर जो कोई रहती है, उसका कण्ठ-स्वर किस प्रकार का है, सूरदास इससे अपरिचित नहीं है। भिक्षा देने के लिए चट्टियाँ चटकाती, चप्पल पहने हुए कुछ मन्द ध्वनि करती अथवा दिल्ली की बनी हुई हलकी जूतियाँ पहने हुए कोमल-सा स्वर उत्पन्न करती हुई, जो कोई भी उसे भिक्षा देने आयी है, सूरदास उसके पृथक् व्यक्तित्व को जान जाता है। उसके आने में जिस प्रकार की ध्वनि उसने पायी है, उसके कण्ठ का स्वर किस प्रकार का होना चाहिए, सूरदास यह पहले से ही जान लेता है।

किन्तु आज सूरदास के मन-प्राण को जो एक नया अमृत-बूँद-सा मिल गया है, यह बात क्या है! इसी को कुछ अधिक स्पष्टता से ग्रहण करने का मोह उसके मन में उत्पन्न हो गया है।

यों तो यह स्वर उसके लिए सदा ही अतिशय कोमल, अत्यन्त प्रिय रहा है, किन्तु आज इस स्वर में स्नेह की यह पुट कैसी है !—'लो, अब तो पानी बरसने लगा सूरदास। आओ, ज़रा बैठ लो। इधर भीतर निकल आओ।' उसके हृत्सागर में एक छोर से दूसरी छोर तक उस स्त्री के ये शब्द तरंगायित हो उठे।

इसी क्षण उस स्त्री ने कह दिया—आओ, आओ सूरदास।... सोचने क्या लगे ?

सूरदास अब लकड़ी से दरवाज़ा टोहने लगा।

स्त्री आगे बढ़ गयी। उसने उसका एक हाथ थामकर, सहारा देते हुए भीतर लाकर, उसे एक कोमल आसन पर बिठा दिया।

अब वह स्त्री भी निकट ही बैठ गयी।

थोड़ी देर तक किसी ने कुछ नहीं कहा। कहने को इन प्राणियों के मन में क्या कुछ है नहीं ? पर पहले कौन-सी बात कही जाय, इसी विचार में वे अब तक मौन हैं। सूरदास कुछ असमंजस में हैं। इस जगह बैठने में वे कुछ नयापन पा रहे हैं। कुछ ऐसे विचार भी उनके मानस-तट तक आ-आकर टकराते हैं कि उनकी चेष्टाएँ विकृत हो उठती हैं। किन्तु फिर भी तुरन्त वे प्रकृत शान्त और विकार-हीन स्थिति में आ जाते हैं।

इसी क्षण उस स्त्री ने मौन भंग किया। बिहँसती हुई वह बोली—यहाँ बैठने में आपको किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हुई, यह बात मेरे लिए कम प्रसन्नता की नहीं है। किन्तु यह कोई नयी

बात नहीं है। हम लोगों की प्रभुता तो देवराज इन्द्र तक ने स्वीकार की है। धनुष, चन्द्रमा, अमृत, कल्पतरु और धन्वन्तरि आदि से हमारे भाई और कामधेनु तथा लक्ष्मी-सी हमारी बहिनें हैं। और ऋषि, मुनि और महात्मा लोगों की तो हम पर सदा से ही बड़ी प्रीति रही है।

"किन्तु मेरे पास तुम्हारी प्रीति के लिए क्या रक्खा है? भिक्षुक के पास देने को हो ही क्या सकता है! कोई ऐसा तपोबल भी नहीं, जो आशीर्वाद के रूप में ही मैं उसे तुम्हारी भेंट कर सकता!—रह गयी रूप-यौवन की बात। सो अब यह सब भी नहीं रहा। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या देखकर तुम एक भिक्षुक से इतनी आत्मीयता दिखा रही हो!" सूरदास ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

इसी समय नौकरानी ने नीचे उसी बैठक में आकर कहा—खाना बन गया सरकार।

तब उस स्त्री ने कह दिया—अभी कैसे बन गया? इन महात्मा के लिए भी तो बनाना होगा···। क्यों महात्माजी, खाओगे न? भूख तो लगी होगी।

सूरदास इनकार न कर सके। अधिक देर तक विचार करने का समय नहीं था। बोले—जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।

स्त्री ने बिजली के तीव्र प्रकाश में स्पष्ट रूप से अनुभव किया—इन शब्दों के उच्चारण के समय सूरदास के शुष्क ओठों पर भी क्षीण हास झलकने लगा है।

नौकरानी ऊपर चली गयी।

स्त्री ने अब उल्लसित मन से कहा—हाँ, एक बात तो तुम छोड़ ही गये सूरदास। तुमने कहा है कि मेरे पास देने को है ही क्या!—धन तुम्हारे पास नहीं, रूप-यौवन तुम खो ही चुके। महात्माओं का-सा तपोबल भी तुमने अभी तक नहीं संचय कर पाया। तुम यही तो कह रहे थे न?

सूरदास बोले—हाँ।

"बस, अब तुम ऐसे पकड़े गये सूरदास कि छूटकर कहीं भी भाग नहीं सकते। अगर हम मान भी लें कि सचमुच इनमें से कोई भी चीज़ तुम्हारे पास नहीं है, तो भी अभी एक चीज़ बच ही रहती है।" स्त्री ने कहा।

"वह क्या?" सूरदास ने विस्मयाकुल होकर पूछा।

"उसे देने कहो, तो बताऊँ," स्त्री बोली।

"अगर मेरे पास होगी, तो मैं इनकार न करूँगा।" सूरदास ने कहा।

"वह निश्चय रूप से तुम्हारे पास है। किन्तु ज़रूरत पड़ने पर मैं उसे माँग लूँगी। सौदा पक्का हो चुका।" स्त्री ने मुसकराते हुए कहा।

सूरदास का रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। यहाँ तक कि उसकी शून्यमयी आँखें तक भीतर-ही-भीतर विलोड़ित होने लगीं।

उसने कहा—तो उसे बतला तो दो। मुझको भी मालूम हो जाय। मैं भी तो जान लूँ, ऐसी कौन-सी चीज़ है! क्या यह

सम्भव नहीं हो सकता कि वह मेरे पास न हो और तुम व्यर्थ ही उसे पाने की आशा कर बैठो। अन्त में निराश होने पर तुम्हें कितना दुःख होगा !"

"जो कुछ होगा, देख लिया जायगा। तुम्हारे पास अगर वह चीज़ सचमुच नहीं निकलेगी, तो मुझे दुःख न होगा। किन्तु मैं अभी से कुछ न बताऊँगी। सम्भव है, आज वह न भी हो या थोड़ी मात्रा में हो। किन्तु मुझे तो पूरी मात्रा में चाहिये। तब अभी से बतला देना कितना अनुचित होगा! तुम्हारा क्या ठिकाना—आज यहाँ, कल न जाने कहाँ ! पता पा जाओ, तो उसको दबा ही बैठो, या संचय करना ही बन्द कर दो। न देने के बीस बहाने होते हैं। आज देना स्वीकार करते हो; क्योंकि आज तुम्हारी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। कल को उसका मूल्य आँककर बदल भी जा सकते हो ! पुरुषों की बात का क्या ठीक ? न, अभी मैं कुछ न बतलाऊँगी।"

अतीत जीवन के कुछ स्वप्न सूरदास के स्मृति-पटल पर नाचने लगे। बात-की-बात में उसकी आँखें भर आईं। पानी बरसने का शब्द अत्यन्त क्षीण हो रहा था। एक ठंढी साँस छोड़ते हुए कुछ अस्थिर होकर उन्होंने कहा—अब जाना चाहता हूँ। पानी भी बन्द हो गया।

"और खाना जो बन रहा है। तुम्हारे सामने की ही तो बात है।" स्त्री ने उत्तर दिया। साथ ही उसने सूरदास के अप्रतिभ मुख को लक्ष करते हुए पूछा—कुछ उदास से जान

पड़ते हो ? जान पड़ता है, तुमको किसी की याद ने इस तरह दुखी कर दिया है। क्यों, झूठ कहती हूँ ? जो भी हो। अब बिना खाना खिलाये तो मैं तुमको छोड़ नहीं सकती। जब हमारे घर तुमने पधारने की ही कृपा की है, तब बिना कुछ खिलाये-पिलाये तुम्हें जाने देना भी ठीक नहीं जान पड़ता। जो सूरदास हमारे यहाँ भिक्षुक रूप में आते थे, वे कोई और होंगे। यहाँ तो वे भगवान के रूप में आ विराजे हैं। अब तो उनको कुछ न कुछ देकर जाना होगा। समझे सूरदास ? एक बार वादा कर देने पर फिर उसे पूरा किये बिना यहाँ किसी की गति नहीं है। सदा से यहाँ इस नियम का पालन होता आया है। तब आपके साथ इस नियम को तोड़ डालना कितना अशुभ होगा, मैं समझती हूँ, इसे और अधिक विस्तार से बतलाने की आवश्यकता नहीं है।"

"किन्तु तब तक रात अधिक हो जायगी। मुझे जाने में कितना कष्ट होगा !" सूरदास ने कहा।

"मैं इसके लिये क्या करूँ ? इस बात को भी आपने उसी समय क्यों नहीं सोच लिया, जब उत्साहित होकर वैसा वचन दे बैठे थे ! अब क्या हो सकता है ! भोजन तो अब करना ही पड़ेगा। बिना भोजन किये अब तुम यहाँ से किसी तरह भाग नहीं सकते सूरदास।" स्त्री कहकर पहले खिल-खिलाकर हँसने लगी। फिर बोली—मैंने अभी-अभी कहा था न, पुरुषों का क्या विश्वास ? मेरी वह बात अभी इतनी ही देर में सामने आ गयी।

मैं भी अगर इसी प्रकार अपनी बात बतला देती, तो फिर पीछे मुझे कौन जाने कितना पछताना पड़ता !

अब सूरदास ने बिहँसते हुए, कहा—तुम्हारा नाम चाहे जो हो, पर तुम हो पूरी मायाविनी। एक बार तुम्हारे जाल में फँसकर फिर कोई भी सहज ही मुक्त नहीं हो सकता !

उल्लसित मुद्रा से उस स्त्री ने उत्तर दिया—तो तुमको इस बात पर विश्वास होगया ?

सूरदास ने कहा—विश्वास की ही नहीं; अब तो यह अनुभव की बात जान पड़ती है।

तब वह स्त्री बोली—तो आज तुम यहाँ से जा नहीं सकते सूरदास। समझ गये ? अब भगवान को इसी कुटी में वासकर उसे पवित्र करना होगा।

सूरदास जैसे एक अगाध में डूबने-उतराने लगे।

[२]

ज़मीदार निरंजन बाबू के मकान के दरवाज़े पर एक पुराना नीम का पेड़ है। जब से उन्होंने सुधि सम्हाली है, तब से यह पेड़ इसी तरह खड़ा है। इसमें अनेक अच्छी सीधी, गोल और सुडौल शाखाएँ हैं। मकान बनवाने में पटाव के लिए धन्नियाँ अथवा कड़ियाँ लगाने के लिए अकसर नीम की लकड़ी ही काम में आया करती है। निरंजन बाबू को भी अपने पिछले चालिस वर्ष के जीवन में अनेक बार नीम की लकड़ी की आवश्यकता पड़ी

थी। पर कभी ऐसा नहीं हुआ कि उस समय उन्होंने भूलकर भी अपने दरवाज़े के इस पेड़ की ओर इस दृष्टि से देखा हो कि इस बार एक-आध डाल इसी में से ले ली जाय। हाँ, यह ज़रूर हुआ है कि उन्होंने अपने बाग़ की मेड़ पर के अच्छे-से-अच्छे नीम को कटवा डाला है। उस बाग़ से लगी हुई जो सड़क है, चाहे उस पर छाया के बदले निरी धूप ही छा गई हो, चाहे राहगीरों को भले ही एक अचम्भा-सा हुआ हो और चाहे उन्होंने यह भी सोच लिया हो कि जिस छाया के लोभ में मैं इतनी दूर तक और चला आया, यह सोचकर कि वहाँ पर ज़रा देर बैठकर सुस्ता लूँगा, तमाखू के पत्ते के टुकड़े कर-करके हथेली पर मीस-मासकर, उसे ठीक ढँग से बनाकर, एक फंकी लगा लूँगा और जो बच जायगी, उसे अँगौछे के एक खूंट में बाँध लूँगा। इस तरह थोड़ी देर वहाँ हलका विश्राम लेकर फिर चल दूँगा। पर अब तो यहाँ वह बात ही नहीं रही। जाने किस ना-समझ तानाशाह ने इस पेड़ की उस शोभाशील डाल को ही कटवा डाला, जिसकी छाया हम लोगों के लिए दूर से ही एक अकल्पित सुख की जननी थी!

किस अभिप्राय से, क्या बात सोचकर, निरंजन बाबू ने अपने दरवाजे के इस पेड़ को ज्यों-का-त्यों रख छोड़ा था, यह कोई न जानता था। कभी कोई ऐसा संयोग ही नहीं आया कि इस विषय में किसी से भी कोई बात वे कह गये हों। वे कोई भी काम किसी से भी पूछकर करने के आदी न थे। सुनते वे सब

की थे, लेकिन करने में उनके अपने मन की प्रेरणा ही मुख्य रहा करती थी। कोई काम वे किस अभिप्राय से करना चाहते हैं, यह कभी प्रकट नहीं हो सका। हाँ, जब काम हो गया और चारों ओर उसकी सफलता की कीर्ति फैलने लगी, तब सभी लोग आप ही कह उठते कि निरंजन बाबू का कोई काम किसी विशेष अभिप्राय से खाली नहीं होता। कितनी दूर की बात वे सोचते हैं, और अवसर पड़ने पर, कैसी ख़ूबसूरती के साथ अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करके ज़िन्दगी का चरमसुख भोग करते हैं!

निरञ्जन बाबू को दिवंगत हुए ऐसे बहुत दिन अभी नहीं हुए, अभी तो पूरे दो वर्ष भी नहीं बीत पाये हैं कि उनके घर-कुटुम्ब की वह शोभा जैसे कहीं प्रस्थान कर गई है। दो लड़के हैं; दोनों में खुलकर मत-विरोध चल रहा है। पहले इसी मकान के नीचेवाले दो कमरों में दोनों का निर्वाह हो जाता था। पर अब दोनों अपने-अपने लिए अलग-अलग मकान बनवा रहे हैं। पहले बड़े लड़के गिरधारीलाल ने अपने लिए महज़ एक बैठक अलग बनवाई थी। पर जब देखा कि बनवारीलाल ने अपने लिए अलग मकान बनवाना शुरू कर दिया है, तो उनसे भी सहन न हुआ। उन्होंने भी अपनी बैठकवाले कमरे को लेकर पुख्ता पक्का मकान बनवाना शुरू कर दिया। इसी चढ़ा-ऊपरी में एक दिन बनवारीलाल ने दरवाजे के ही नीम की एक मोटी डाल कटवा डाली। और तब से पूर्वजों के पुण्य प्रताप की, द्वार की

वह शोभा ही अन्तर्धान हो गई। तब से बेचारा पुराना नीम का वह पेड़ ऐसे रो रहा है जैसे उसका जवान पुत्र ही धोखा देकर चल बसा हो!

इन्हीं दो वर्षों में एक दुर्घटना और भी हुई है। हम उस दुघटना की चर्चा न करते, किन्तु किया क्या जाय, वह ऐसी साधारण बात तो है नहीं, जो पचा ली जा सके। जब आज इस गाँव में ही नहीं, निरंजन बाबू के नाम से परिचित निकट के अनेक गाँवों के सहस्रों निवासी उस बात को जानते हैं, तो हमी उसको छिपाकर क्या करेंगे? फिर वह तो एक दुःख की बात है—रुदन के निमन्त्रण, विषाद के हाहाकार और कालदेव के कुटिल अट्टहास की। उसके तो प्रकट होने में ही संसार की सार्थकता है। आँसुओं से भिगो-भिगोकर, तीक्ष्ण हाहाकार के विषाक्त उच्छ्वासों से, नियति के इस क्रूर अनुशासन को तो विध्वंस करने की ही आवश्यकता है।

निरञ्जन बाबू के एक तीसरी संतान और है उनकी छोटी कन्या, जिसका नाम तो नँदरानी है, पर लोग उसे नन्दा कहते हैं। अपनी इह लीला संवरण करने के तीन मास पूर्व ही वे इस नन्दा का विवाह कर गये थे। पर उनकी आँखें फिरते ही, ऐसा भी दुस्संयोग उपस्थित होने को था कि वह विधवा हो गई!

विवाह के अवसर पर लड़की की रुख़सत न करने की ही प्रथा इस परिवार में चली आयी है। इस तरह नन्दा ने अभी ससुराल का मुँह भी नहीं देखा था।

द्वाराचार के अवसर पर, नन्दा ने पति की काया का प्रतिविम्ब मात्र देख पाया था। निश्चित था कि वर्ष के भीतर ही गौना ले लिया जायगा, और तभी वह विधिवत् ससुराल को प्रस्थान करेगी। परन्तु एक दिन जब अचानक उसकी ससुराल से, एक कोने-से फटा हुआ, पोस्टकार्ड आया और उसमें लिखे हुए संवाद को जब उसने अपनी छोटी भाभी के मुँह से सुना, तो उसकी क्या दशा होगई, कैसे उसको उसकी भाभियों ने समझाकर रक्खा, यह सब बतलाना जितना प्राण-पीड़क है, उतना ही दुष्कर। किन्तु ऐसे अवसर पर एक बात ऐसी भी है, जो भुलायी भी जाय तो भूल नहीं सकती। हमारे जीवन में कभी-कभी ऐसे ही विचित्र और संकटापन्न क्षण आते हैं, जब हम किसी बात को टाल नहीं सकते, छिपा नहीं सकते और चाहें कि वह भूल जाय, या भुला दी जाय, तो उसे भूल भी नहीं सकते।

नन्दा के जीवन में वह क्षण इसी प्रकार का था। घर में उसकी माँ नहीं थी, भाभियाँ थीं। वे जब एकदम से रो पड़ीं, तो नन्दा ने जाना कि कुछ अनिष्ट हो गया है। फिर प्रकट हुआ कि नन्दा जिसके साथ ब्याही गई थी, वही, ठीक वही, (कोई और पुरुष नहीं) नहीं रहे, उन्हीं का देहान्त हो गया है। बीमार एक दिन भी नहीं हुए। बात यह हुई कि यमुना की अथाह जलराशि में अपने कुछ साथियों के साथ तैरने को वे ज़रा-सा बढ़ गये। और बढ़ क्या गये, उत्साह में आकर अन्य लोगों से बहुत आगे निकल गये; विजय की कामना लेकर, अन्य तैराकों

का दर्प-भंग करने के लिए। किन्तु वे इतना आगे बढ़ गये, ऐसे बढ़ते चले गये कि फिर वापस न आ सके। जैसे यही सोचकर गये हों कि आगे बढ़ना है, तो फिर पीछे क्या लौटना!

इस संवाद का मर्म जानकर नन्दा को ऐसा लगा, जैसे उसका स्वप्न भंग होगया हो। अभी तक तो पति उसके लिए कल्पना मात्र ही था। कभी-कभी उसी कल्पना में वह बिभोर हो जाती थी। सोचने लगती थी—वे जब मिलेंगे, तब न जाने मुझसे पहले पहल किस तरह पेश आयेंगे! कौन जाने, कोई संकेत करें कि एकटक देखते ही रह जाँय, या कुछ कहने लगें। यही सब बातें अपने भीतर उत्पन्न कर-करके वह एक स्वप्न-राज्य में विचरण करने लगती थी। और अब इतना ही हुआ है कि स्वप्न देखते-देखते कुछ आतंकित-सी होकर वह सोते से उठ बैठी है; क्योंकि उसके स्वप्न का तारतम्य टूट गया है। जैसे वह अकस्मात यह सोच लेने के लिए विवश है कि जो स्वप्न वह देख रही थी, वह मिथ्या है; सत्य नहीं है। वह था, यह भी सोचने की बात नहीं रही। वह तो कुछ भी नहीं था। यों ही कुछ क्षणों का मतिभ्रम था, प्रमाद मात्र।

किन्तु प्रतिकूल इसके इतनी बात के लिए यह सब जो सोचा जा रहा है कि नन्दा अभागिनी है, उसका सुहाग लुट गया है, यह सब और कोई चाहे जो कहे या सोचे, किन्तु नन्दा के लिए जैसे यह कोई सोचने की बात ही नहीं है।

किन्तु नन्दा की यह स्थिति उसके अन्तस्तल की है। समाज और जगत् के बीच जो नन्दा है, उसे तो अपने निकट को देख-कर चलना है। कुटुम्ब और समाज उससे आशा करता है कि वह रोये और इतना रोये कि उसके आँसुओं का स्रोत सूख जाय, उसका मानस विकृत होजाय, वह विक्षिप्त हो उठे, अपने सिर को दरवाज़ों या दीवारों पर पटक-पटक कर उसे फोड़ डाले, या उसे क्षत-विक्षत करके अचेत हो जाय। इतना ही नहीं, यदि वह मर भी जाय, तो भी वह उचित है—सर्वथा अपेक्षित और शुभ-कर। इसीलिये इस प्रसङ्ग को लेकर जब कभी कोई कुछ कहने लगता है, रोने को तत्पर-सा देख पड़ता है, तो नन्दा को रोना ही पड़ता है।

नन्दा अबोध नहीं है। वह जानती है कि उसका सौभाग्य-स्वप्न टूट गया है। वह उस सम्बन्ध को लेकर जो चाहे सो सोच सकती है। वह रोना चाहेगी, तो रो भी लेगी; या जब उसकी इच्छा रोने की न होकर कुछ सोचने की होगी, तो वह सोचती भी रहेगी। किन्तु जब उसकी प्रकृत स्थिति कुछ सोचने की है, जब वह रोना नहीं चाहती, रो नहीं सकती, तब भी यदि कोई उससे आशा करे कि टोला-पड़ोस की चार स्त्रियों के एकत्रित होने पर उनके साथ वह भी और किसी ओर अपनी मति-गति न ले जाकर, केवल रुदन को ही आमंत्रित करके, उसी का आतिथ्य-सत्कार करे, यह बात नन्दा की समझ में नहीं आ रही है। किन्तु यही एक क्या, ऐसी ही और भी अनेक बातें भी चाहे

नन्दा समझ न सके, तो भी उसे रोना ही पड़ेगा। फिर उसका यह रुदन केवल आज भर के लिये नहीं है, उसे तो अब जीवन भर रोना है। जैसे रोना ही उसका जीवन है और जीवन की अन्य कोई भी स्थिति उसके लिये जीवन नहीं है।

हाय! एक पतिहीना हिन्दू नारी की यह कैसी दयनीय स्थिति है!

× × ×

दोपहर बीते देर हुई; किन्तु नन्दा की बड़ी भौजी अभी सोकर नहीं उठी है। नन्दा ने उठकर देखा, धूप अब भी तेज है और लू चलने का वेग कम नहीं हुआ है, तो वह फिर लेट रही। इसी समय एक वर्ष का उसका भतीजा उठकर बैठ गया और रोने लगा। नन्दा ने समझा, भौजी अपने आप जग जाँयगी और दूध पिलाकर मना लेंगी। लेकिन त्रेतायुग की और सब बातें हमारे इस देश में चाहें मिट गई हों, किन्तु नींद के सम्बन्ध में कुम्भकर्ण का उत्तराधिकार लेनेवाले यहाँ अब भी एक-दो नहीं, हजारों स्त्री-पुरुष मिलेंगे। तिवारी गिरधारीलाल की देवीजी इन्हीं स्त्री-रत्नों में हैं। हाँ, तो वह नन्हा-सा लड़का शुकदेव जिसका नाम है, रोता ही रहा और उसकी माँ नहीं उठी, तो नहीं ही उठी। निदान, नन्दा ही उठकर उसके पास गई। गोद में लेकर जो उसने पूछा कि रोते क्यों हो बाबू, तो उसने चारपाई पर का बिछौना भीगने की ओर सङ्केत किया। अब नन्दा ने समझा कि शुकदेव ने लघुशङ्का करके बिछौना भिगो दिया है और यही उसके रो उठने कारण है। तब उसने कहा—तो

चलो हमारे पास सो रहो। उसने उसे उठा लिया और वह अपनी कोठरी में आकर लेट रही। साथ में उसने उसे भी लिटा लिया। लिटा तो लिया उसने अपने साथ। साथ ही थपकी दे-देकर सुलाने की चेष्टा भी कम नहीं की; लेकिन शुकदेव का रोना फिर भी बन्द नहीं हुआ। तब नन्दा ने सोचा—और कोई बात है। अब उसने यह जानने की चेष्टा की कि और क्या बात हू। पर उस ठीक कारण मालूम न हो सका। उधर शुकदेव का रोना बन्द होना तो दूर, उल्टा और बढ़ गया। तब विवश होकर नन्दा को अपनी बड़ी भौजी के पास जाकर उसे जगाना ही पड़ा।

गोद में वह शुकदेव को लिये खड़ी है और अपनी बड़ी भौजी के बदन को धक्का देकर कहती है—भौजी, ओ बड़ी भौजी! अरे उठो, देखो शुकदेव क्या जाने क्यों रोता है? मेरे चुपाने से नहीं चुपता। ... भौजी, ओ बड़ी भौजी!

बड़ी मुश्किल से देवीजी जो उठीं, तो सामने नन्दा को देखते-देखते उनकी आंखें चढ़ गईं। बोलीं—तुम्हारे मारे तो मेरी नाक में दम आगयी है। चूड़ियाँ क्या तुम्हारी फूटीं, शऊर भी तुम्हारा जाने किस देश को भाग खड़ा हुआ है! जरा देर चारपाई पर जो लुढ़क रहूँ और एक झपकी ही लग जाय, तो सोने न पाऊँ! अब बताओ न, किसके घर आग लग गई, कहाँ गाड़ी लड़ गई जो भौजी-भौजी चिल्ला रही हो। बोलो न, अब खड़ी क्यों हो, रानी!

नन्दा ने उसकी किसी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। केवल शुकदेव को उसकी गोद में दे दिया और किसी प्रकार मुँह फेर-कर अञ्चल से आँसू पोंछ लिये। फिर धीरे-धीरे वह अपनी कोठरी की ओर चल दी।

छोटी बहू सो चुकी थीं। वह अपने कमरे से उठकर इधर चली आयी थीं कि देखें नन्दा क्या कर रही है; किन्तु जब देखा कि उसकी कोठरी ख़ाली है तो वह पुकारने लगी—बिट्टी-बिट्टी! जीजी, उधर बिट्टी है क्या?

तब तक उद्विग्न मन, आम्लान मुख और मन्द किन्तु अस्थिर गति से नन्दा उसी ओर जा पहुँची।

उसको अत्यन्त उदासीन देखकर छोटी बहू ने पूछा—क्या बात है बिट्टी? ऐसी उदास क्यों हो?

मानवात्मा की भी बड़ी विचित्र गति है। अभी-अभी नन्दा के उमड़ते हुए आँसू किसी प्रकार स्थिर हो पाये थे कि उसकी छोटी भौजी के इस प्रश्न ने फिर उन्हें बाहर निकलने को तत्पर कर दिया। निमेष मात्र में नन्दा का वह यौवन-दृप्त कलेवर शिथिल, ध्वस्त और गलित-सा होकर चारपाई पर आ रहा। सिसकियाँ ले-लेकर वह रो पड़ी।

छोटी बहू ने तब और ज़ोर से पूछा—क्या बात है बिट्टी—बताओ न, क्या किसी ने तुमसे कुछ कहा है? हाय! यों भी तुम अभागिनी हो, फिर भी तुम्हें अपने ही घर में इतना कष्ट हो,

तो यह बड़े दुःख की बात है, बड़े शर्म की ! जान पड़ता है, अभी जीजी ही ने तुम से कुछ कह दिया है। उनकी ज़बान बड़ी कड़ी है, उनकी कही हुई छोटी-सी बात भी तीर की तरह चुभती है। न रोओ बिट्टी, अब और न रोओ। अधिक रोने से आँखें ख़राब हो जाती हैं। मैं तुम्हारे दुःख को क्या जानती नहीं हूँ ? रोना तो अब तुम्हें जीवन भर है, लेकिन इस तरह रोना...उफ़ !

छोटी बहू की भी आँखें भर आईं।

इसी समय बड़ी बहू झनझनाती हुई वहाँ आ पहुँची। बोलीं—अब कौन मर गया है, जो इस तरह रो रही हो ! पहले अपने पिता को लिया, फिर अपने स्वामी को जपा। अब क्या हमारे सुहाग को भी इस तरह रो-रोकर लूट लोगी !...और तुम यहाँ आकर क्यों उल्टी-सीधी बातें सुझा रही हो देवरानी जू ! हमारे ही घर में हमारी ही बुराई करोगी बिटिया से ? अब इस घर पर रहम करो लक्ष्मी, अपने उसी महल में वह रोना-धोना रातदिन मचाये रखना। जी में आये तो इन्हें भी लिये जाना अपने साथ। मेरे यहाँ इस तरह न चलेगा, किसी तरह नहीं।

छोटी बहू ने पहले तो सोचा—बकने दूँ; परन्तु आगे चलकर जब उनके तीक्ष्ण शब्द वह सहन न कर सकी, तो बोली—भगवान से थोड़ा डरो जीजी ! स्त्रीजाति का ऐसा अधिक उपद्रव उनसे भी सहन नहीं होता।...छिः छिः ! कोई ऐसी बातें भी ज़बान पर लाता है, जैसी तुम एक साँस में कह जाती हो ! रही बिट्टी को साथ रखने की बात; सो मैं तो आज से नहीं, महीनों से कहती

आ रही हूँ कि तुम्हारा निर्वाह जीजी के साथ हो न सकेगा, तुम हमारे ही साथ रहो। परन्तु यही बराबर टालती आरही है। एक तो उसे भगवान ने ही दुखिया बना दिया, फिर अब तुमभी उसके साथ इस तरह से पेश आती हो, जिस तरह से कोई लौंड़ी-बाँदी को भी न दुतकारेगा! न,...अब और अधिक तुम्हारा दुःख मैं न देख सकूँगी। मैं आज ही उनसे कहूँगी, वे तुमको अपने ही साथ रक्खें। आज भर ठहर जाओ जीजी, केवल शाम तक।

बड़ी बहू अब लौटकर जाती हुई कहने लगीं—घर और कैसे बिगड़ता है? इसी तरह तो बिगड़ता ही है।

× × ×

दिन जाते देर नहीं लगती। सभी के दिन कट जाते हैं। दुःख में सुख में, चाहे जिस प्रकार हो, दिन तो कटते ही रहते हैं। नन्दा के भी दिन कट रहे हैं। धीरे-धीरे उसे विधवा हुए दो वर्ष पूरे हो रहे हैं। इधर उसके इस वर्ष की पूर्णता है, उधर उसके नवल यौवन का प्रकृत उन्मीलन। इधर संस्कृति, आदर्श और समाज है, उधर मानव-प्रकृति की तरंगायित लिप्सा, रह-रहकर हृदय के अणु-अणु को उन्मथ करनेवाली उद्दाम पीड़ा, सुलग-सुलग कर जल उठने वाला अनंगानल, दब-दबकर उत्थित होनेवाला चिरन्तन उन्माद।

वह अपनी ससुराल आयी हुई है। उसकी ननँद का विवाह है। सभी कुटुम्ब तथा घनिष्ट सम्बन्धी इस समय वहाँ एकत्र हैं। कोई उसके पति के मामाज़ात भाई है, कोई फूफाज़ात। किसी-किसी की वह भाभी भी होती है। उसका एक देवर भी है। उसका नाम है केदार।

नन्दा की ननँद चन्द्रमुखी उससे एक वर्ष छोटी है। जैसा उसका नाम है, रूप में भी वह वैसी ही उज्ज्वल और आलोकमयी है। जबसे उसने नन्दा को पाया है, तब से वह उसे क्षण भर को भी छोड़ना नहीं चाहती।

केदार की अवस्था अभी अठारह वर्ष की ही है। एक दम से कच्ची मानवता की; किन्तु प्रकृति का वह गम्भीर और धर्मभीरु है। बिना सोचे-समझे जल्दीबाज़ी में वह कोई काम नहीं करता।

विवाह के दूसरे दिवस का कार्य समाप्त हो चुका है। रात के ग्यारह बज गये हैं। बरात खा-पीकर अपने जनवासे को लौट गयी है। केदार के मान्य लोग, और जो वृद्ध हैं, परिश्रम का काम नहीं कर सकते, रात को अधिक देर तक जग भी नहीं सकते, वे सब भी बरात-भोज के समय अन्यत्र बैठकर भोजन कर चुके हैं। अब तो केदार के घर के वही निजी आत्मीय लोग रह गये हैं, जिन पर काम का सारा भार रहा है।

"आँगन को बारी ने धोकर साफ़ कर दिया। ठीक है। अब हम लोग भी बैठ जाँय। क्यों भाभी ? बड़ी भूख लगी है मुझे। सच !" हरिनाम ने नन्दा की ओर एकटक देखते हुए कहा।

यह हरिनाम केदार का फुफेरा भाई है।

नन्दा ने लक्ष किया, वह अभिनव दृष्टि से उसे देख रहा है। उस दृष्टि में जसे कहीं कुछ और भी है। फिर उसके शब्द भी तो खूब सम्हले हुए हैं—"बड़ी भूख लगी है मुझे। सच !'

नन्दा के सगी सास नहीं है, चचेरी है; सो भी यहाँ इस कुटुम्ब के साथ नहीं रहती। चन्द्रमुखी के विवाह के ही उपलक्ष में आयी है। नन्दा उसे चाची कहती है। रसोई में भीतर की ओर बैठी हुई वे चाची इन लोगों के लिए थाली परोस रही थीं; उसने सुना भी था कि हरिनाम कह रहा है कि उसे भूख लगी है। इसीलिये वे भोजन परोसने में विशेष रूप से संलग्न थीं। किन्तु नन्दा तो हरिनाम की लोल दृष्टि में खेलते हुए कौतुक को देख रही थी। वह देख रही थी कि जब हरिनाम उससे बातें करता है तो उसके हास के साथ उन शब्दों का मेल कैसा मधुर हो उठता है!

किन्तु नन्दा तो अभागिनी नारी है, किसी व्यक्ति के उल्लसित मुख, उसकी लालच भरी दृष्टि और कौतुक-पूर्ण शब्दों की ओर अपने आपको इतना अधिक खींच ले जाने का उसे अधिकार ही कहाँ है! यही सोचकर वह जैसे अपने आप ही में समा गई है। उत्तर में उसने कुछ कहा नहीं। हाँ, यह अवश्य हुआ कि एक चिनगारियों से भरे हाहाकार को दबाने में उसकी आँखों के भीतर ही भीतर आँसुओं का कोलाहल शान्त न रहकर एक-दो करके बाहर भी निकल ही पड़ा। तब इधर-उधर देखते हुए उसने अंचल से अपने उन आँसुओं को तुरन्त पोंछ डाला।

इसी समय केदार, हरिनाम तथा और भी दो-तीन व्यक्ति पीढ़े डालकर आँगन में बैठ गये। नन्दा ने सिर के ऊपर के अंचल को नीचे खिसकाकर क्रम-क्रम से सबके आगे थालियाँ रख दीं।

सब लोग भोजन करने में लग गये।

हरिनाम भोजन करता हुआ सोचने लगा—ओह ! तुमने कितना रूप पाया है रानी ! लेकिन किसके लिये ? इसे लेकर तुम रहोगी कहाँ ? कहीं तुम्हारे लिए इसको सम्हालकर रखने का स्थान भी है ?

कौर मुख में रखते हुए इधर-उधर से नज़र बचाकर एक बार फिर उसने नन्दा की ओर दृष्टि डाली। कसी हुई कंचुकी के ऊपर फैली हुई शुभ्र धोती की छाया-रेखाओं में उसने जो कुछ देखा, उसने वह बनाय अस्त-व्यस्त हो गया। उसे प्रतीत होने लगा कि अब तक उसने जो कुछ भी देखा और समझा है इसके सामने वह सभी क्षुद्र है, मिथ्या है।

अब उसकी दृष्टि नन्दा के मुख की ओर जा पड़ी। उसने देखा, इस मुखपर जो गम्भीरता है, उसमें अभी तक बुझे हुए दीपक की-सी प्रशान्त स्थिरता ने ज़रा भी अधिकार नहीं जमा पाया है। यह मुख तो तृषा-संतप्त है—चिर पिपासा ने ही इसकी किशलय-आभा को इस प्रकार आम्लान कर दिया है।

नन्दा अब उठकर घी-चुपड़ी और तहाई हुई रोटियों के थाल को लेकर सब के आगे आ-आकर रोटियाँ छोड़ने लगी। केदार के आगे दो, वीरेन्द्र के आगे एक रोटी छोड़ने के पश्चात् जब वह हरिनाम के आगे गई, तो क्षण भर को ठिठककर खड़ी हो गई। उसने देखा, पहली बार जो चार फुलकियाँ तहाकर चाची ने उस

थाली में रख दी थीं, उनमें से अभी तक दो ही खाई गई हैं। थोड़ा-सा साग मात्र खाया गया है। भात ज्यों-का-त्यों पड़ा है। तब जड़ीभूत-सी होकर वह एक क्षणभर तो अवाक् रह सकी, पर फिर तुरन्त उसके मुँह से निकल गया—अरे, तुम अभी तक बैठे ही हो हरी! कुछ भी तो नहीं खाया। देखो, तुम्हारी थाली में अभी तक सारा सामान ज्यों-का-त्यों पड़ा है। और अभी तो तुम कह रहे थे—बड़ी भूख लगी है! ऐसी ही भूख है तुम्हारी!

इस "ऐसी ही भूख है तुम्हारी" के उच्चारण को लेकर नन्दा का जलजात-विनिन्दक वह मुख कुछ-कुछ हास-पूर्ण हो उठा!

और उस कमल-बदन के विलोड़ित लावण्य की कमनीय शोभा देखकर हरिनाम का मन-प्राण ऐसा तरंगित हो गया कि साथ के व्यक्तियों के संग बैठकर खाना उसके लिए दुष्कर, अतीव दुष्कर होने लगा। उसने चाहा कि वह कह दे कि ऐसी बात नहीं है भौजी। भूख तो अवश्य थी, पर तुम्हारे स्पर्शमात्र से ही वह जाने कहाँ चली गई। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारा स्पर्श ऐसा मृदुल है कि उससे भूख-प्यास भी भाग खड़ी होती है!

पर इस उपस्थित समुदाय के समक्ष वह यह सब कैसे कहता!

किन्तु भूख होने पर भी अकारण स्वल्प आहार ग्रहण करने के मर्म पर उठनेवाले भावी प्रश्नोत्तरों की आशंका से वह ऐसा आतंकित हो उठा कि तत्काल अपने आपको सम्हालना उसके लिए अनिवार्य्य हो गया। तब झट-झट पाँच-सात मिनट में ही वह अपनी इस आहार-यात्रा में सब के साथ-साथ चलने लगा।

खाना खा लेने पर जब सब लोग हाथ-मुँह धो चुके और इधर-उधर चल खड़े हुए, तो हरिनाम ने नन्दा की ओर देखकर कहा—अब पान नहीं खिलाओगी भाभी !

नन्दा जैसे स्वप्न देख रही हो। हरिनाम के प्रश्न से उसके हृत्तल में एक झटका-सा जा लगा ! बोली—पान ! हाँ पान क्यों न खिलाऊँगी ? लेकिन अभी नहीं, थोड़ी देर बाद। और सबको परोसकर खिला लूँ, तब। किन्तु यदि अभी खाना चाहो, तो अलमारी में बटुआ रक्खा है। उसी में पन-बसने में अलग पान भी हैं। लगाकर खा लो न ? कौन जाने मुझे यहाँ से निश्चिन्त होने में देर ही लग जाय। तुम भी तो दिन भर के थके हो !

हरिनाम पान लगाने लगा। उसके मन में आया कि अपने लगाये हुए इन पानों के खाने का मोह तो उसे था नहीं; फिर भी जब भाभी ने कह ही दिया है तो वह अपने हाथ से भी पान लगा लेगा। उसकी बात को वह टालेगा कैसे ?

अभी वह पान लगा ही रहा था कि केदार आगया। बोला—वाह दद्दा, तुम तो बल नंबर एक के आदमी हो। मेरी इच्छा को तुम इतनी जल्दी ताड़ लेते हो, यह मैं अब जान सका हूँ। किन्तु दो पान और भी ज्यादा बना लेना। वीरेन्द्र भैया को भी तो देना ही होगा।

"अच्छा, एक बात तो बताओ भई केदार। यह विवाह तो अब जैसे निपटा ही जा रहा है। अब तुम्हारा विवाह कब होगा ? मैं तो समझता था, पहले तुम्हीं...।" हरी ने कहा।

केदार कुछ बोला नहीं; क्योंकि ऐसे अवसर पर जो बातें कहनी होती हैं, वह उनको सोच ही नहीं पाता है। फिर जब सोच भी लेता है तो उनके कहने का जल्दी उसे अवसर नहीं मिलता। इसीलिए वह उस क्षण थोड़ा संकुचित-सा हो उठा। किन्तु फिर भी अपने भीतर के उल्लास को वह संयत न रख सका। हास का थोड़ा-सा संकेत उसके होठों पर झलक ही आया।

हरिनाम ने लक्ष किया, केदार मेरी बात का उत्तर भले ही न दे, परन्तु उस बात से उसका हृदय-कुसुम कितना विकसित हो उठा है यह तो उससे छिपाया नहीं जा सकता। तब उसने कहा—किन्तु जान पड़ता है, तुम नहीं चाहते कि इस विषय की बातें मैं तुमसे कहूँ। अच्छी बात है, किन्तु फिर कभी शिकायत न करना कि मुझे बताया तक नहीं; क्योंकि यद्यपि मेरी अवस्था तुम से कुछ अधिक है और मैं विवाह करना भी नहीं चाहता हूँ फिर भी किसी दिन भी, इच्छा होने पर, मैं अपना घर किसी न किसी की पायल की झनकार से गुंजित कर सकता हूँ। फिर अपनी उस भाभी के हाथ का परोसा हुआ भोजन चाहे तुम खाना, चाहे न भी खाना। मुझे उस समय इस बात की चिन्ता करने का अवकाश न रहेगा।

हरिनाम और केदार की ये बातें जिस कमरे में हो रही थीं, वह रसोईघर से थोड़े ही फासले पर था। प्रारम्भ में, इन बातों के कथन में न तो कोई प्रवाह ही था, न किसी तरह की प्रगतिशील लोच। इसलिये वे बातें धीरे-धीरे ही

चल रही थीं। किन्तु उमंग में आकर जब हरिनाम ने केदार को उकसाने की इच्छा से ऐसी चोट करनेवाली बात कह डाली, तो उसका कंठस्वर कुछ अधिक स्पष्ट हो गया। यहाँ तक कि नन्दा ने भी उसे सुन लिया।

किन्तु केदार ने हरिनाम की बात को किस रूप में ग्रहण किया यह भी छिपा नहीं रह सका; क्योंकि जैसे ही उस बात की समाप्ति का स्वरूप स्पष्ट हुआ, वैसे ही केदार खिल-खिला कर हँस पड़ा।

हरिनाम पान लगा चुका था। अब वह उनको मुट्ठी में दबाकर बाहर चल खड़ा हुआ। चलते-चलते दो पान उसने केदार को देते हुए कहा—चलो, अभी चलकर वीरेन्द्र से भी मैं यही कहता हूँ। यह न समझना कि तुम इस मिठाई को अकेले ही अकेले चुपचाप खाकर हज़म कर लोगे! समझते हो न? हँसने से क्या होता है? ज़्यादा हँसनेवाले व्यक्ति अधिकतर निष्कपट होते हैं; किन्तु चलो, वीरेन्द्र के सामने मैं यह साबित कर दूँगा कि हमारा केदार इस नियम का अपवाद है।

केदार दरवाज़े पर वीरेन्द्र के पास पड़ी हुई चारपाई पर आकर बैठ गया।

उस समय वीरेन्द्र कुछ निद्रित-सा था। इसलिए हरिनाम की ओर देखते हुए उसने कहा—ये लो, वीरेन्द्र भाई तो सो गये। अब?

हरिनाम उसी प्रकार कृत्रिम गम्भीरता उद्दीप्त करते हुए कहने लगा—'अब' की इसमें क्या बात है ? आज न सही कल सही। बिना उसे अपनी बात समझाये मैं मान नहीं सकता। उस बात को तो बताना ही पड़ेगा, छिपाकर मैं उसे कैसे रख सकूँगा। न, मुझसे यह हो नहीं सकता। किसी तरह नहीं।

अन्तिम बात को हरिनाम ने जानबूझकर कुछ अधिक ज़ोर देकर कहा।

वीरेन्द्र अभी अच्छी तरह सोया नहीं था। इस बातचीत से वह और भी सजग हो गया। बोला—क्या बात है हरी भाई ? मुझे बतलाने की हो, तो कल न बताकर अभी इसी समय बता दो। क्योंकि आज की बात को कल पर टालना मुझे पसन्द नहीं है।

हरिनाम बोला—बात यों कुछ भी नहीं है, पर जो लोग समाज को मानते हैं, और समाज जिनको अपने में सम्मिलित रखकर स्थिर रहता है, उन लोगों के लिए तो वह बात यों टाल देने की नहीं है। उनको तो सभी बातों को ख़ूब ध्यान से देखकर चलना पड़ता है। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि केदार भाई की-सी स्थिति का आदमी मिस शहज़ादी के यहाँ जाकर उनकी महफ़िल की शोभा बढ़ाये। इतना ही नहीं, मैंने तो नीरव भाषा और कण्ठ-हीन स्वर में यहाँ तक सुना है कि मिस शहज़ादी उस दिन खाना-पीना तक छोड़ देती हैं, जिस दिन हमारे केदार बाबू उनके यहाँ हाज़िरी बजाने नहीं आते। इसीलिये जब ये सब बातें मुझसे सहन न हो सकीं, तो मैंने इनसे साफ़ तौर से कहा

कि भाई, यह रवैया तो अच्छा नहीं है। ब्याह करो ब्याह, और आज ही हम लोगों को यह बता दो कि किस तारीख़ को हमें फिर इसी तरह रात-रातभर जागरण करने का आनन्द उठाने के लिए विवश होना पड़ेगा!

हरिनाम की इस बातचीत से अभी तक केदार ही चारपाई पर बैठा हुआ हँसते-हँसते लोट-पोट हो रहा था, पर अब वीरेन्द्र भी अपनी हँसी रोक न सका। वह भी खिल-खिलाकर हँस पड़ा।

हरिनाम बोला—बेचारे बुड्ढों को तंग मत करो। यों भी उनको रात भर करवटें बदलते बीतती है। नींद नहीं आती; क्योंकि जनवासे में नाच—दाँतों के नीचे जिह्वा दबाकर—शिव शिव! नहीं भाई, मैं कह यह रहा था कि यों भी उन्हें नींद नहीं आती है, और तुम लोग कभी हँस करके, कभी उनकी नाकों में काग़ज़ की बत्ती प्रवेश करके, उनकी नींद हराम कर देते हो! यह भी कोई अच्छी बात है! न हरिचंद कक्का, तुम चुपचाप सोओ, तुम्हारे साथ यह शैतानी मेरे रहते कोई कर न सकेगा।

वीरेन्द्र ने हँसते-हँसते कहा—बस भैया बस, नहीं तो खाना पीना सब बेकार हो जायगा, मेरा तो पेट फूला जा रहा है। अब इस हास्य-पुराण को यहीं समाप्त कर दो। बारह बज रहा है। सबेरे उठकर फिर काम में लगना है। ऐसा न करो कि हम लोग सबेरे सात बजे तक सोते ही रह जायँ और यहाँ चीं-चपड़ का कोलाहल की हमारी निद्रा भङ्ग करने का कारण बने।

केदार अपने बिस्तर बिछाकर लेट रहा था। इसी समय हरिनाम ने वीरेन्द्र को पान देते हुए कहा—अरे मैं समझ रहा था कि तुम सो रहे हो, इसीलिये तुम्हारे हिस्से के पान भी, फिर से अपने दोहरावन के लिए, मैंने ही अपनी तकिया के नीचे कागज में लपेटकर, रख लिये थे।...ये लो।

वीरेन्द्र पान लेकर कहने लगा—पान तो खैर लाओ, दे दो। पर अपने लिए बताओ कि तुम जो आखिर अब तक इस तरह अललबछेड़ा बने घूमते हो, इसका कारण क्या है ? जीवनभर क्या इसी तरह रहोगे ?

हरिनाम हँसते हुए कहने लगा—मैं ? मैंने इस काम को दूसरे जीवन के लिए रख छोड़ा है। बाबू (पिता) जी ने जब मेरे एक विवाह के लिए बहुत ज़ोर दिया, और तब भी मैंने उसे स्वीकार न किया, तो उन्होंने एक शाप दिया था। कहा था कि जब मेरे इतना आग्रह करने पर भी तुम विवाह नहीं करते हो, तो एक दिन ऐसा भी आयेगा, जब तुम चाहोगे कि विवाह कर लूँ, तब भी तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हारा विवाह न हो सकेगा। सो, अब मेरा विवाह यदि हो भी रहा हो, तो भी मैं कभी नहीं चाहूँगा कि उनके शाप में किसी भी तरह का अन्तर पड़े। मैं तो उसे सोलहआने यथार्थ सिद्ध कर देने में ही अपने जीवन का चरम सन्तोष मानता हूँ।

केदार और वीरेन्द्र हरिनाम के इस कथन से अवाक् हो गये। कोई कुछ कह न सका।

थोड़ी देर तक सबके सब मौन रहे। अन्त में जब हरिनाम ने देखा कि ये दोनों भी सो गये हैं, तो वह चुपचाप घर के भीतर जाकर एक ओर खड़ा हो गया। उसने इधर देखा, उधर देखा। जब कहीं कुछ न देख पड़ा तो वह लौटने लगा। इसी समय नन्दा ने भीतर से निकलकर पूछ दिया—कौन? हरी हो क्या? पान लेने आये हो? अच्छा, मैं आयी। ये लो! ...पानी तो नहीं पियोगे?

हरी को प्यास नहीं थी, तो भी इस क्षण वह न जाने क्यों अभिभूत-सा हो गया। न चाहते हुए भी उनके मुँह से निकल गया—पियूँगा भौजी।

अब हरी बायें ओर के कमरे की देहली पर बैठ गया था। नन्दा ने एक गिलास पानी लेकर हरी के आगे रख दिया। पानी रखकर वह एक ओर जाने लगी। हरी गिलास हाथ में लेकर उसके कमनीय कलेवर को, पग-पग पर हिलने-डुलनेवाली उस की गति-विधि और क्षीण प्रकाश में भी उद्दीप्त होनेवाली उसकी रूप माधुरी को देखता रह गया।

नन्दा तो भीतर जाकर चारपाई पर पड़ रही, पर क्षणभर पूर्व उसके पद-क्षेप से बननेवाली उसकी मनोहर छाया तक के चित्रपट को हरी अपनी सजग कल्पना में देर तक देखता ही रह गया।

प्यास तो हरी को थी नहीं, दो-चार घूँट पानी पीकर, गिलास वहीं रखकर, पान के बीड़े मुँह में दबाता हुआ

दुर्निवार उन्माद में भरा हुआ-सा, उखड़ा-उखड़ा-सा, हरी द्वार की ओर चल दिया।

[३]

खाना तैयार हो जाने पर उस स्त्री ने उसे अपने हाथ से ही एक थाली में परोसा। दो कटोरों में साग रखकर ऊपर से एक-एक चिम्मच घी भी उनमें छोड़ दिया। थाली और कटोरे सूरदास के सामने रखकर एक ओर तो उसने कहा—'हाँ', अब खाओ सूरदास, और दूसरी ओर पास ही बैठकर वह उन पर पंखा झलने लगी। नौकरानी ने पंखा हाथ से छीनकर .खुद डुलाने की चेष्टा की, तो उसने मना कर दिया। कुछ कहा नहीं।

सूरदास थाली और कटोरियों को टटोल-टटोलकर खाना खाने लगे। वे खाना खाते जाते थे और कुछ सोचते भी जाते थे। लेकिन कुछ कहते नहीं थे। उस रसोई-घर में प्रकाश उस समय इतना क्षीण नहीं था कि सूरदास के मुख की भावभंगी स्पष्ट देखने में किसी प्रकार की असुविधा होती। थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे। अन्त में उस स्त्री ने ही मौन भंग किया। उसने कहा—सूरदास, आज इस अवसर पर एक बात मेरे मन में बार-बार आ-जा रही है। मैं सोचती हूँ, तुम भी कोई बात सोचते जरूर होगे। बोलो, मैं झूठ कहती हूँ ?

"नहीं माया—मैं अबसे तुमको 'माया' ही कहूँगा—हाँ, तो ऐसा कैसे हो सकता है! मनुष्य का मन ठहरा। यह मैं कैसे कह सकता हूँ कि कोई बात मेरे मन में आती ही नहीं है।"

"वही तो"—माया बोली—"मैं भी सोचती हूँ। लेकिन तुम जो कुछ सोचते हो, क्या मैं उसे जान सकती हूँ?"

"जान सकती हो माया। मुझे ऐसा जान पड़ता है, तुम सभी कुछ जान सकती हो।"

सूरदास की इस भाषा में क्या कोई ऐसी अद्भुत शक्ति है कि माया का रोम-रोम उस स्वर के साथ विजड़ित हो उठता है, वह नहीं जानती। तो भी इतना वह सोच लिया करती है कि कुछ भी हो, इनकी भाषा में प्राण है, जीवन है। —ऐसा जीवन, जो आत्म-दग्ध और जर्जरित मन के कलुष को स्पर्श-मात्र से धो डालता है।

माया ने कहा—सूरदास, क्या तुमने कभी सोचा है कि पापों से मुक्ति कैसे मिलती है?

"सोचा है माया? पापों से मुक्ति भी मिलती है, और निवारण भी होता है। पर संयम, त्याग और साधना के बिना कुछ नहीं हो सकता।"

"तो वही पथ मुझे बतला न दो सूरदास? मैं पतिता नारी हूँ। मुझे अब इस जीवन से ऊँचे उठने की कोई

ऐसी युक्ति बता दो, जिससे मैं अपने कलुष की गठरी को जीते जी यहीं छोड़ जाऊँ, भावी जीवन के लिए उसे साथ ले चलने की ज़रा भी शक्ति अब मुझमें नहीं रही है।"

"मैं भी तो महापातकी हूँ माया। मैं ही कौन पहुँचा हुआ कोई ऐसा बड़ा महात्मा हूँ, जो तुम्हें पापों से मुक्त होने का मार्ग बतला सकूँ।"

"तुम यह कहते क्या हो सूरदास? तुमको जो कोई पातकी समझे, वह महानीच है। मेरे लिए तो तुम देवता के समान हो। तुम्हारी वाणी का अमृत मेरे रोम-रोम को कितना पवित्र, कैसा निर्मल बना देता है, यह मैं ही जानती हूँ। मैं कह नहीं सकती, तुमने कैसा उदार और उच्च हृदय पाया है! यही देखो, तुम जो इस समय मेरे यहाँ का भोजन पा रहे हो, यही बात क्या मेरे लिए कम गौरव की है! सुनती हूँ, एक दिन भगवान बुद्ध ने भी अम्बपाली के यहाँ जाकर भोजन किया था। आज तुमने भी मेरा आतिथ्य ग्रहण करके अपनी कैसी ऊँची प्रवृत्ति का परिचय दिया!"

सूरदास ने खाना बन्द कर दिया। माया की ओर उद्यत से होकर, अपने मुख को थोड़ा ऊपर उठाकर, मानो अन्तस्तल का मर्म खोलते हुए, सूरदास ने कहा—मैं क्या हूँ माया, तुम जानती नहीं हो। शायद कभी जान भी न सकोगी। लेकिन अगर तुम जान सकतीं, तो मेरा मुँह तक देखना तुम्हें स्वीकार न होता, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। और खाने की जो बात

तुमने कही, सो यह तुम्हारा थोड़ा-सा अज्ञान है। आख़िरकार मैं विरागी ही हूँ माया। मेरे लिए सभी घर एक-सौं हैं। फिर मैं तुम्हें क्षुद्र क्यों समझूँ ? किसी प्रकार जीवन के इतने दिन पूरे कर पाया हूँ। ज़िन्दगी की इस नाव को अब और अधिक दूर नहीं जाना है। किसी न किसी प्रकार पार ही कर लूँगा।

"अब तुम खाना खा लो सूरदास। मैं तुम्हारे चित्त को दुखाना नहीं चाहती। ओह! मैं नहीं जानती थी कि भगवान के इतने प्यारे भी ऐसे पीड़ित होते हैं! नहीं तो मैं ऐसी बात न कहती।···सभी को अपने ही दुःख अधिक भारी जान पड़ते हैं। कोई जब किसी से अपनी बातें कहने लगता है, तभी वह भी अपना दुखड़ा रोये बिना नहीं मानता। भगवान की यह कैसी अद्भुत रचना है, कुछ समझ में नहीं आती।"

"एक तुम्हीं नहीं माया, जो दिन-रात 'भगवान-भगवान' की रट लगाया करते और उसकी लीलाओं के जानकार बनने का घमण्ड दिखलाया करते हैं, वे साधू-संन्यासी लोग भी उनको दूर-ही-दूर से देख पाते हैं। उनके मर्म को जानने की सामर्थ्य उन्हें भी नहीं होती।···कौन जानता था कि मेघ-गर्जन के साथ-साथ जो चपला कभी-कभी आकाश में चमक उठती है, वही आज यहाँ इस घर में माया के रूप में प्रकट होकर मेरा राजाओं का-सा इस तरह स्वागत-सत्कार करेगी और मैं उसकी बातों में इतना फँस जाऊँगा कि जितना ही दूर होने के

लिए आतुर होऊँगा, उतना ही उसके साथ बँधकर किसी भी तरह नाहीं-नूहीं तक न कर सकूँगा !"

उनके इस कथन से माया भीतर-ही-भीतर कितनी उत्फुल्ल हो उठी है, काश सूरदास भी यह जान सकते !

एक बार का परोसा हुआ खाना जब क़रीब-क़रीब समाप्त हो गया, तो माया ने और भी दो कचौड़ियाँ सूरदास के आगे की थाली में परोस दीं।

सूरदास पहले उनके शब्द और फिर स्पर्श से ऐसे अचकचा गये कि आकस्मिक रूप से उनके मुँह से निकल गया—अरे ! यह तुमने क्या किया ! मैं तो भरपेट खा चुका था।

"तो क्या हुआ ?"—माया बोली—"थोड़ा और सहो। बचपन की याद होगी, तो जानते ही होगे कि हम स्त्रियाँ इस काम में सदा ऐसी ही धृष्टता करती आई हैं।"

"अरे ! यह तुमने क्या बात कह दी माया ! उफ़ !" कहते हुए सूरदास का कण्ठ भर आया। निमेष मात्र में उनकी शून्य आँखों से आँसुओं की बूँदें टपाटप गिरने लगीं !

उधर माया ने भी चुपचाप साड़ी के छोर से अपने आँसू पोंछ लिये। वह उस क्षण कुछ बोली नहीं; किन्तु भीतर के हाहाकार को उसका आन्तरिक निश्वास किसी तरह दबाकर रख न सका।

सूरदास बोले—"बस, अब किसी तरह और अधिक खा नहीं सकता माया" और उठकर खड़े हो गये। सहारे से एक ओर

ले जाकर माया ने पानी देकर उनका हाथ-मुँह धुलाया। फिर उसी कमरे में पहुँचाकर कहा—अब ज़रा देर बैठो यहाँ। मैं भी थोड़ा-सा खालूँ, तब और बातें करूँगी। पानी फिर बरसने लगा है, ऐसी अँधेरी रात में अब मैं तुम्हें किसी तरह न जाने दूँगी।

सूरदास बोले—न, अब मैं और ठहर न सकूँगा। किसी तरह नहीं। एक पानी की कौन बात है, चाहे प्रलय ही आ जाय, मैं किसी तरह रुक न सकूँगा।.....इस अपनत्व और श्रद्धा को यहीं टिक रहने दो माया। इसे और अधिक बढ़ाने की चेष्टा करोगी, तो इसे भी खो बैठोगी, यह मैं अभी से कहे देता हूँ।

अब उन्होंने अपनी झोली सम्हाली और डंडे से आगे का पथ टोहते-टोहते वे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही चल खड़े हुए।

माया ने नौकरानी को आदेश देकर उनके साथ कर दिया। वह उनको सहारा देती हुई सड़क की ओर चल दी।

माया फूट-फूटकर रोने लगी।

सूरदास जब अपने ठिकाने पर पहुँचने को हुए, तो कुछ फ़ासले से ही बोले—अब तुम लौट जाओ, मैं चला जाऊँगा। मेरे पीछे तुमको भी इतनी तकलीफ़ हुई।.....हाँ, अब तुम लौट ही जाओ। मेरे पीछे-पीछे न चली आना। मेरी बात

मानने में ही तुम्हारा कल्याण है। साधू के साथ छल करना अच्छा नहीं होता। समझती हो न ?...हाँ, अब जाओ।

नौकरानी बोली—अच्छा महाराज ! जाती हूँ।

नौकरानी भी लौट आई। थोड़ी देर में जब वह उस घर में पहुँची, तो भीतर जाकर उसने देखा कि खाना ज्यों का त्यों ढका हुआ रक्खा है और माया चारपाई पर पड़ी हुई आकाश की ओर देख रही है।

थोड़ी देर तक नौकरानी स्थिर होकर खड़ी उसे देखती रही। फिर बोली—खाना खा लें सरकार ! यों भी वह ठण्ढा हो गया होगा।

माया ने पहले तो कोई उत्तर या आदेश नहीं दिया। फिर जब देखा कि नौकरानी ने कुछ कहा भी नहीं और वह खड़ी की खड़ी है, लौट भी नहीं गई, तो बोली—मुझे भूख नहीं है। तू खा ले जाकर।

किन्तु नौकरानी खड़ी ही रही। उसकी इतनी हिम्मत नहीं थी कि माया के आदेश का विरोध करती। किन्तु वह ऐसी अबोध भी नहीं थी कि माया के इतना कहने पर चुपचाप चल ही खड़ी होती।

इसी क्षण माया ने पूछा—भेज आयी उन्हें ?

उसने कहा—हाँ, भेज आयी। किन्तु अपने ठिकाने तक न ले जाकर कुछ और पहले ही उन्होंने कह दिया—अब तुम लौट जाओ, मैं चला जाऊँगा। फिर यह भी कहा कि लौट ही जाना। मेरे साथ किसी तरह का छल न करना। साधुओं के

साथ छल करना अच्छा नहीं होता। ऐसी हालत में मैं और क्या करती ? लौट आयी।

माया बोली—जा, तू खा ले जाकर। मुझे नहीं खाना है।

नौकरानी बोली—सरकार आप अगर खाना न खायेंगी, तो मैं ही अकेली जाकर खा लूँगी, यह कैसे हो सकता है ! आप ही से तो मेरी ज़िन्दगी लगी है।

अब माया उठकर रसोई-घर की ओर चल दी। नौकरानी ने खाना परोसकर उसके आगे रख दिया। माया ने, थोड़ा-बहुत जो भी उससे हो सका, खाया। किन्तु आज उसने कितना खाया और कितना नहीं खाया, कितना जान-बूझकर नहीं खाया और कितना अज्ञान में नहीं खाया, न तो उस सीमा तक वह नौकरानी ही जान सकी, न ख़ुद माया ही। किन्तु जिनसे कोई बात छिपाई नहीं जा सकती, उन अन्तर्यामी से आज माया की इस स्थिति ने निराकार और निर्वाक् रहकर भी जो कुछ कह पाया, सो मन्दिरों और मसजिदों के गगन-भेदी नाद भी निश्चयपूर्वक कह ही पाते हैं, यह न कहा जा सकता है, न कहकर समझाया जा सकता है।

× × ×

कानपुर शहर में एक सड़क पर जहाँ लक्षाधीशों की कोठियाँ हैं, वहीं एक धर्मशाला भी ऐसी बनी हुई है, जहाँ एक साथ अगर पाँचसै मुसाफ़िर भी ठहरने को आ जायँ, तो भी उनमें कोई वापस न जाने पायेगा। इस धर्मशाले की कोठी

तीन मंज़िल की बनी हुई है। कभी-कभी कुछ भूखे-टूटे मँगते लोग इसी धर्मशाले के आगे के ऊँचे चबूतरे पर आकर रात को विश्राम करते हैं। इसी स्थान पर अपने कुष्ट-पीड़ित, अंग-हीन, अर्धनग्न साथियों के बीच जब सूरदास भी जा पहुँचे, तो एक साथी ने पूछ दिया—आज बड़ी देर कर दी सूरदास ! कहाँ रह गये थे ? जान पड़ता है, कहीं गाना सुनाने लगे ? क्यों ? तब तो यार ढेर-के-ढेर पैसे लाये होगे ! लाओ, एक-आध पैसा मुझे भी दो। रबड़ीवाला अभी उस चौराहे तक पहुँचा भी न होगा।... वैसे चाहे हम लोग अपनी ज़िन्दगी रो-झींखकर किसी तरह काट भी डालें, पर ये ससुरे चाट-या मिठाईवाले, ये रबड़ी, रेवड़ी और मूँगफलीवाले—ये लोग तो हम लोगों को तरसा-तरसाकर, मरने के पहले ही सैकड़ों बार मार डालते हैं !

इस आदमी का नाम रामदास था। यों उसके घर में चाहे भगेड़ू ही उसका नाम रहा हो; पर अब तो जहाँ कहीं ज़रूरत पड़ती है वह अपना नाम रामदास ही बतलाता है। इसके दोनों पैर बेकाम हो गये हैं। हाथों के बल घसिल-घसिलकर चलता है। दोनों हाथों में मज़बूत लकड़ी की छोटी खड़ाऊँ-नुमा कोई नवाविष्कृत चीज़ लिये रहता है। पहले उन्हीं को दोनों हाथों से आगे ठहराकर फिर आगे की ओर खसक जाता है।

सूरदास एक ओर झोली रखते हुए बोले—गाना-वाना कहीं नहीं हुआ भाई रामदास। हाँ, भोजन एक अमीरज़ादी के यहाँ ज़रूर हो गया। उसीमें देर हो गई। लेकिन भोजन क्या हुआ,

मैं तो जैसे नरक-कुण्ड में जा फँसा था। बड़ी मुश्किल से छुटकारा पाया। भाग न खड़ा होता, तो न जाने क्या गति होती! फिर तो किसी तरह निस्तार ही न होता!

रामदास गहरे आश्चर्य्य में ऐसा डूब गया कि न तो सूरदास की उस रहस्यमय बात को ही समझ सका, न अपने महत आश्चर्य्य का परिचय ही उस अवसर के उपयुक्त शब्दों में दे सका। वह एकदम विमूढ़-सा हो गया।

इसी समय एक स्त्री बोल उठी—क्या किसी रंडी के घर जा पहुँचे थे?

सूरदास बोले—हाँ बहिन! लेकिन करता क्या? गरमागरम कचौड़ियों को कैसे छोड़ता? पानी बरसने लगा था। मुझे भीगता देखकर पहले तो उसने कहा—अन्दर आ जाओ, भीगते क्यों हो? मैंने भी सोचा—ठीक तो है। पर मैं जो भीतर गया, तो दो ही मिनट में उसने अपनी नौकरानी को मेरे लिए भी खाना बनाने का हुकुम दे दिया। इसी तरह फँस गया। लेकिन उसने आज स्वर्ग और नर्क सभी कुछ दिखला दिया। ऐसा आदर-सत्कार तो घर में जोरू भी नहीं करती बहिन। सच! मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ कि उसने मुझसे ऐसी-ऐसी बातें कीं कि मैं तो चक्कर में आ गया। ओह! ये औरतें क्या हैं, बिल्कुल जादूगरनी हैं। बातों ही बातों में उसने एक बात ऐसी कह दी कि मेरी आँखों में आँसू आगये। जैसे वह मेरे हृदय के भीतर पैठ गई हो!

अब रामदास ने कहा—तिस पर तुम कहते हो कि नरक-कुण्ड में जा फँसे थे !

सूरदास बोले—लो, अब सुनो बहिन इनकी इस बात को ! अरे मीठी बातों से ही क्या होता है ! थी तो वह जात की वेश्या ही न ! और चिकनी-चुपड़ी मीठी बातें करना तो उसका नित्य का पेशा ठहरा। यह गुण उनमें न हो, तो पैसेवालों को वे अपने वश में किस तरह करें !

रामदास बोला—ख़ैर, अब इस पुराण को यहीं ख़तम करो। कुछ पैसे ले आये हो, तो दो-ठो इधर मेरी तरफ़ फेंको। तुम तो माल छककर आये हो। इधर बासी-तिवासी वे रोटियाँ इतनी सख़्त हो गई होंगी कि दाँतों से लड़ाई ठाने बिना काहे क़ब्ज़े में ही न आयेंगी। फिर दाल भी नहीं है, जो उसी में मीसकर खा लूँगा।

सूरदास ने दो पैसे उसकी ओर फेंक दिये।

इसी समय पास की स्त्री ने भी पैसों का शब्द सुनकर कह दिया—एक पैसा हमें भी दे डालो सूरदास। मैं तुम्हारी बहिन जो हूँ।...हाँ, अब ठीक हुआ। रोज़ मैं सबेरे उठकर भगवान से एक बार यही बिनती करती हूँ कि इस मेरे भाई को अभी तक तुमने जो कष्ट दिया है, यही बहुत है। अब इसको और अधिक दुख में कभी न डालना। सो देख लेना भैया, तुम सदा इसी तरह सुखी रहोगे। पैसे से तुम्हारा हाथ कभी ख़ाली न होगा।

इतना कहकर वह स्त्री भी रामदास के पीछे हो ली।

यह स्त्री इस दल में कौन जाने कहाँ से आ पड़ी है। यहएक पैर से लँगड़ी है और इसकी नाक का आगे का भाग भी कटा हुआ है।

रामदास ने आगे बढ़कर पूछा—तुम क्या लाओगी चमेली ?

चमेली बोली—मैं क्या ले आऊँगी, सो अभी से क्यों बताऊँ ! जब खाने बैठूँ, तब पूछना ! तुम तो अपनी रबड़ी मुझे चखाने से रहे।

[४]

चन्द्रमुखी अभी सोकर उठी ही थी। वह दुछत्ते पर से उतर कर नीचे आयी थी। उसके पैरों में पायजेब, हाथों में कँगना और गले में गुलूबन्द सुशोभित था। उसके कानों में सोने के जड़ाऊ इअर-रिंग डोलते हुए बड़े सुहावने मालूम होते थे। वह पीली रेशमी साड़ी पहने हुए थी। एक तो उसका गोरा सोने के रंग का वर्ण, दूसरे ये स्वर्णाभरण ! उसकी कान्ति पूर्णिमा के शरच्चन्द्र जैसी अलौकिक हो रही थी।

नन्दा उसके इस अलंकृत रूप को देख-देखकर जब अपने अतीत से उसकी तुलना करती, तो उसका मन-प्राण स्मशान में जलती हुई चिता के समान धूधूकर जलने लगता।

चन्द्रमुखी भी अपनी भौजी की इस दशा से कम मर्माहत न होती थी। वह जानती थी कि रूप और गुण में उसकी यह भौजी उससे किसी प्रकार हीन नहीं है। फिर भी दुर्भाग्य की

अमिट रेखाओं ने उसे कितना हीन और कितना क्षुद्र बनाकर छोड़ दिया है ! चन्द्रमुखी यही सब सोचती एकान्त में बैठी हुई थी कि इसी समय नन्दा ने आकर कहा—ऐसी सुस्त क्यों बैठी हो बिटिया, जब तक हम बनी हैं, तब तक तुमको किसी तरह का सोच करने की ज़रूरत ही क्या है।

चन्द्रमुखी नन्दा के इस कथन से और भी अधिक व्यथा से द्रवित हो उठी। भौजी के भीतर कितने बड़े दुःख का पहाड़ समाया हुआ है, यह क्या वह जानती नहीं है ! तो भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि ऐसे मांगलिक अवसर पर उसने कभी एक आँसू तक गिराया हो ! जो लोग दुःख के आघात को आँसुओं को राह से निकाल दिया करते हैं, संसार समझता है कि वे ही बहुत अधिक दुःखी हैं, उनके उत्पीड़न की थाह नहीं है। किन्तु इसी संसार में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो व्यथा को निकालते नहीं, निकलने देते भी नहीं, वरन् अपने भीतर ही उसे पड़ी रहने देते हैं। ऐसे व्यक्तियों का हृदय कितना गहरा होता है—कैसा महान् ! चन्द्रमुखी जानती है कि ऐसी ही यह उसकी भौजी भी है। वह अच्छी तरह समझती है कि भौजी ऊपर से जितनी निर्विकार देख पड़ती हैं, भीतर से उतनी ही उत्तप्त हैं। इसीलिये वह कभी ऐसी कोई बात न कहती थी, जिससे उसके मर्मस्थल को किसी प्रकार की चोट पहुँचे। जान-बूझकर वह ऐसे अवसर टाल जाती थी। किन्तु इस समय ख़ुद उसी ने जब बात छेड़ दी तो चन्द्रमुखी बेचारी रो पड़ी।

इसके सिवा एक बात और है।

चन्द्रमुखी के जिस ज्येष्ठ बन्धु को निधन हुए अभी दो वर्ष ही हुए हैं, उसकी स्मृति इस अवसर पर उसे भी बार-बार आकर उसकी आत्मा को एक प्रकार के दारुण आघात से विमनस्क कर जाती है। अपनी इस भौजी की ओर देखकर वह उस उमड़ते हुए दुःख को किसी प्रकार सम्हाल लिया करती है। किन्तु आज इस समय जब उसकी उस भौजी ने ही इस प्रसंग को छेड़ दिया, तो वह स्थिर न रह सकी।

भगवान जिसको दुःख देते हैं, उसके साथ फिर कुछ रू-रियायत नहीं करते। जब चुकाना होता है, तब अच्छी तरह जी भर-कर जैसे चुकाते हैं, वैसे ही जब ग्रहण करना होता है, तब कहीं कोई अंश अछूता भी नहीं छोड़ते।

चन्द्रमुखी की माँ बचपन में ही मर चुकी है। माता का सुख कैसा होता है, उसने जाना ही नहीं। हाँ, पिता उसके अभी तक अवश्य बने हैं। पर उन्हें आँखों से देख नहीं पड़ता। थोड़े ही दिनों से उनकी आँखों ने जवाब दे दिया है। बड़ा भाई था, वह भी अकाल-मृत्यु का ग्रास बन चुका है। एक मात्र जेठी बड़ी भाभी है उसकी, जिसका अवलम्ब वह पा सकती है, पर वह बेचारी भी ख़ुद कितनी दुखिया है! रह गया केदार, सो वह अभी तक तो पढ़ता ही रहा है। अब थोड़े दिनों से ज़मीदारी का कार्य-भार सम्हालने लगा है। किन्तु अभी वह है काहे में? अभी उसे संसार का ज्ञान ही कितना है! इस तरह

चारों ओर से वह अपने इस घर में अन्धकार से ही घिरी हुई है। वह किससे कहे, और क्या कहे ? कौन उसकी सुननेवाला है ?

चन्द्रमुखी जब रोने लगी, तब यही सब बातें क्रम-क्रम से आ-आकर उसके मन-प्राण तक को व्याकुल करने लगीं।

नन्दा ने निकट आकर अपने अंचल से उसके आँसू पोंछे। सिर पर हाथ फेरते हुए उसने समझाया कि यह अवसर रोने का नहीं होता। मंगल-कार्य को तो हँसी-खुशी से ही पूर्ण किया जाता है। न, तुम्हारे रोने का कोई कारण नहीं है। भगवान करे, तुम्हारा सुहाग अजर-अमर रहे और तुम अपने दुलहा बाबू की राजरानी होकर रहो।

चाची और बुआ ने भी सुना। वे भी पास आकर खड़ी होगईं। बुआ बोली—अरे चन्दा बेटी, तू क्या पागल हो गई है ! तू कितनी समझदार है, यह मैं बराबर सुनती आरही हूँ। फिर अब तो तुमको हँसी-खुशी के साथ अपने घर जाना है। उठो तो, झट से मुँह तो धो लो।

चन्द्रमुखी ने उठकर मुँह धोया। फिर वह नित्य-कर्म में लग गई।

दोपहर हुई। गाँव की स्त्रियों से घर भर गया। अनेक प्रकार के पक्वान्न बनाये जाने लगे। उस समय चन्द्रमुखी नीचे नहीं उतरी। वह दुछत्ते पर ही बैठी हुई कभी कोई पुस्तक पढ़ती. कभी लेट रहती।

नन्दा काम में ऐसी व्यस्त थी कि सुबह के बाद फिर उसे चन्द्रमुखी का ख़याल ही न रहा। किन्तु जब स्त्रियाँ गाना गाने लगीं, तो प्रसङ्गवश यकायक उसे चन्द्रमुखी का ध्यान आ गया। तब नन्दा ऊपर जा पहुँची।

उस समय चन्द्रमुखी एक पुस्तक पढ़ रही थी। नन्दा ने निकट पहुँचकर देखा—वह एक उपन्यास है। तब उसे देखकर वह मुसकराने लगी।

यह नन्दा जब कभी मुसकराती है, तक कोई भी हो, उसके चञ्चल लोचनों के अभिराम कौतुक को देखकर उसका रोम-रोम निद्रित-सा, खोया हुआ-सा, पराजित-सा हो उठता है। जी में आता है, इसी प्रकार वह हँसा ही करे और ये आँखें उसकी उस अनङ्ग-क्रीड़ा को देखती ही रहें।

उस निर्मल, अकृत्रिम रूप-माधुरी को देखकर चन्द्रमुखी यों भी कम प्रभावित नहीं रहती। पर जब कभी नन्दा मुसकराने लगती है, तब तो वह उसके आगे, एकदम से, समर्पित-सी हो जाती है।

इस समय भी यही बात हुई। प्रतिमा-सी चिरस्थिर रहकर वह उसे देखती ही रह गयी।

नन्दा बोली—चलो, जोड़ी अच्छी मिली है। तुम दिन-रात उपन्यास पढ़ोगी और बाबूजी अपनी बैठक में बैठे-बैठे सितार बजायेंगे! क्यों?

चन्द्रमुखी को यह बात मालूम न थी। नन्दा के द्वारा इस संवाद को सुनकर वह भीतर से प्रसन्न ही हुई; पर कृत्रिम उपालम्भ से बंकिम भ्रू-क्षेप करती हुई बोली—चलो हटो, मुझे तुम्हारी ये अठखेलियाँ नहीं सुहातीं।

तब मुँह बनाकर नन्दा ने कहा—हाँ, तुमको कब सुहायेंगी भला! अठखेलियाँ सुहायेंगी उसको, जिसका ब्याह हो रहा होगा। तुमसे उसका सम्बन्ध क्या? ठीक तो है।...शाम को दुलहा-भाई जब कलेऊ करने आयेंगे, तब उनसे कहूँगी कि तुम्हारा यह सितार-उतार तुम्हारी मेम साहब के मन को किसी तरह क़ाबू में न ला सकेगा। उपन्यास मँगवा रक्खो ढेर-के-ढेर और उनके पास पढ़ने के लिए इस तरह पहुँचाते रहो कि तार टूटने न पाये। लेकिन उपन्यासों में जो कुछ लिखा रहता है, वैसा, उस तरह का, कोई विचार जो कभी मन में लाओगे, तो उस मानिहानि का मावज़ा चुकाये बिना किसी तरह छुटकारा न होगा; क्योंकि ये सब बातें उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं हैं! क्यों? इतना ही कहूँ कि कुछ और भी कहूँ? अच्छा, जो तुम बताओ, वही कहूँ।

रूमाल मुँह में लगाकर चन्द्रमुखी बिहँसती रही। जब नन्दा ने अपनी बात समाप्त कर ली, तब चन्द्रमुखी बोली—और भी जो कुछ कहना हो, वह भी कह देना, कुछ बाक़ी न रखना। बस, अब तो ख़ुश हो न?

नन्दा अभी तक खड़ी ही थी। अब वह उसी पलँग पर, जिस पर चन्द्रमुखी बैठी हुई थी, बैठकर बोली—अच्छा, सच बतलाओ, तुमने अभी तक उन्हें देखा है कि नहीं ? तुम्हें हमारी क़सम!

चन्द्रमुखी अब ऊपर-ही-ऊपर थोड़ी बिगड़ खड़ी हुई। बोली—जाओ, अपना काम देखो। इस तरह की बात पूछते हुए तुमको शरम भी नहीं आती !

अब नन्दा सचेत हुई। अब उसे बोध हुआ कि वह बातें करते-करते जा कहाँ पहुँची है ! उसके उस हास-मुखरित आनन की लालिमा मिटकर अकस्मात् जैसे श्वेतहो गयी ! तब झट से वह लौट पड़ी। किन्तु ज़ीने पर क्षण भर खड़ी रहकर उसने अपने नेत्रों पर अंचल देकर उस में जो कुछ पाया, उसे अन्तर्यामी ने देखते हुए भी देखा कि नहीं, अनुभव करते हुए भी उसे अनुभूति के खाते में जमा किया कि नहीं, कौन जान सकता है ?

क्षुधित, क्षिप्त और प्राण-दग्ध नारी की इस व्यथा का कौन-सा समाधान उस समाज के पास है, जिसने विधवा को सब प्रकार से ऐसा निरीह, निराश्रित और विवश-विपन्न बना रक्खा है ? जो पुरुष एक स्त्री के निधन होने पर तुरन्त द्वितीय विवाह करके गौरवान्वित हुआ करते हैं, उन निर्विकार, निष्कलंक और निर्मल बननेवाले महामहिम बन्धुओं से हम पूछना चाहते हैं कि वे विधवा की इस असहनीय पीड़ा को कभी अपनी विचार-धारा में पाते हैं कि नहीं ?

चन्द्रमुखी ने समझा कि भौजी विरक्त होकर चली गई हैं, तो उसे मन-ही-मन बड़ा दुःख हुआ। रह-रहकर उसे उसकी क़सम की बात याद आ जाती। लज्जा के आकस्मिक आक्रमण से अवसन्न-सी होकर उस समय उस क़सम की मर्यादा को तो वह भूल ही बैठी थी। ओह! कितने अकपट और निश्चल स्नेह से उसने उनको देखने के सम्बन्ध में पूछा था।

यही सब सोचती हुई चन्द्रमुखी आम्लान मुख से गाँव की बस्ती के उस पार छाये हुए सघन आम्र-बन की हरियाली की ओर देख रही थी कि ज़ीने पर किसी से पद-क्षेप से सहसा उसका ध्यान भंग हो गया। तुरन्त उठकर वह उधर ही जाकर देखती क्या है कि असल में उसकी भौजी अभी तक गई नहीं थी, वह अब उतर रही है। तब उसने तुरन्त अतिशय उत्सुकता से कहा—अरे भौजी, सुनो-सुनो। तुम क्या मुझसे रूठकर जा रही हो? ना भौजी, मैं तुम्हें रूठने न दूँगी। आओ, लौट तो आओ इधर।

नन्दा लौट पड़ी। चन्द्रमुखी की मुद्रा को देखते-देखते वह भी ऊपर से बिहँसती हुई बोली—मैं तुमसे रूठकर कहाँ जाऊँगी बिटिया!

चन्द्रमुखी ने प्यार की झिड़की देकर कहा—यह तुम क्या कहती हो भौजी!

यह बात उसने नन्दा की आँखों में अपनी आँखें देकर कही। किन्तु फिर उसी क्षण नतमुख होकर बोली—तुमने जो

बात पूछी थी, उस समय मैं उससे इतनी लजा गई थी कि मुझे इस बात का भी ख्याल न रहा कि अपने हृदय में कितना अधिक प्रिय स्थान मुझे देकर तुमने वह बात पूछी है! सच जानो भौजी—मैं अक्सर यही सोचती रहती हूँ कि जब भगवान ने इस ओर से मेरा सारा सुख हर लिया, तब तुमको ऐसा सलोना, इतना सरल और सुन्दर बनाकर, हृदय में इतना अधिक प्यार देकर क्यों भेजा? कहीं ऐसा न हो भौजी कि तुम भी मुझे छोड़ कर चल दो! रात-दिन मैं यही सोचती रहती हूँ कि इतने अधिक दुःख को तुम सम्हाल कैसे सकोगी!

कहते-कहते चन्द्रमुखी की आँखें भर आयीं।

नन्दा बोली—जिन्होंने दुःख दिया है, वे ही सम्हालने देंगे, तो सम्हालूँगी; नहीं तो जमना मैया की गोद तो कहीं गई नहीं है!

"हाय, यह तुम क्या कहती हो भौजी! ऐसा भी कोई करता है! दुख तो भोगने से ही कटते हैं, उन्हें तो भोगना ही होता है। भाग खड़े होने से कहीं उनसे मुक्ति मिलती है! क्या इतनी-सी बात भी तुमको मुझे समझानी पड़ेगी! कभी ऐसा भूलकर भी न कर बैठना भौजी, तुम्हें हमारी सौगन्द है।" चन्द्रमुखी ने अतिशय गम्भीर होकर कहा। फिर वह उसकी ओर उन्मुख होकर देखती रह गयी!

नन्दा बोली—मुझे यह ज्ञान, यह उपदेश बिच्छू के डंक की तरह लगता है बिटिया। इसको रहने ही दो। इतना मैं जानती

हूँ कि मैं कुछ हूँ नहीं, कोई भी वस्तु नहीं हूँ। मैं कर ही क्या सकती हूँ ! मैं तो निमित्त हूँ, बहाना। जो कुछ भी होगा, जिस तरह भी वे रक्खेंगे, उसी तरह तो रहना होगा। मेरे चाहने, चिन्तित रहने या अपने को मार-मारकर रखने से ही क्या होगा !...ख़ैर, अब इन बातों को यहीं रहने दो। यह बताओ कि क्या इसीलिये मुझे वापस बुलाया था ?

इस अंतिम वाक्य को कहते-कहते नन्दा फिर मुसकरा उठी। चन्द्रमुखी बोली—मैं अभी बता दूँगी, अभी। पर पहले यह तो बताओ भौजी कि तुम यह बात पूछती क्यों हो ? इसके जान लेने में तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?

अभी क्षण भर पहले नन्दा का जो मुख खिले हुए गुलाब की भाँति तरंगायित देख पड़ता था, चन्द्रमुखी के इस प्रश्न से वह फिर निमेष मात्र में अतिशय आम्लान हो उठा। किन्तु उसने तुरन्त अपने आपको सम्हाल लिया। भीतर के दारुण द्वन्द्व का मानो मुख बन्द करके अग्रिम दन्तद्वय झलकाते हुए उसने कह दिया—मैंने पूछा इसलिए था कि अगर न देखा हो तो आज उन्हें दिखा देने में मैं तुम्हारी कुछ मदद करूँ।

नन्दा चन्द्रमुखी से निकट ही खड़ी हुई थी। उसके इतना कहते ही चन्द्रमुखी का वह चन्द्रानन नन्दा के वक्ष पर समर्पित होकर ढुलक पड़ा; और तब नन्दा ने उसे उसमें और भी अधिक चिपकाते हुए कहा—इसमें लजाने की बात हो, तो उससे हो

भी सकती है, जो तुमसे भिन्न हो। मैं तो तुम्हारी अपनी भौजी हूँ। मुझे तो तुम अपने से वैसा अलग नहीं मानती हो।

अब चन्द्रमुखी थोड़ी विलग-सी होकर, उन्नत मुख से कह उठी—अच्छा भौजी, तुम मुझे इतना अधिक क्यों चाहती हो, क्यों मुझे इतनी अधिक प्यारी लगती हो?

नन्दा की स्थिति इस समय कैसी है, यह तो वही जानती है। और कोई कैसे जान सकता है? किसी को क्या पड़ी है कि वह इस प्रकार का दर्द, यों ही, व्यर्थ में, मोल लेता फिरेगा। पर यदि वह कोई लोकोत्तर पुरुष हो, और उसके मर्म को जानना ही चाहे, तो ऐसा सम्भव भी हो सकता है। लेकिन सम्भव होकर ही क्या होगा! नन्दा के भीतर प्रवेश करने की कौन सी शक्ति उसके पास होगी, जिससे वह इस तरह की ऐसी अकल्पित चेष्टा में प्रवृत्त होगा? तब एक लेखक ही ऐसा बच रहता है, जिसे धधकती हुई आग की इस भट्ठी में अपने आपको जान बूझकर झोंकना ही पड़ता है, उसी को तो इस प्रकार के कर्तव्यगत प्रकृत अभिशाप का भोग करना होता है।

चन्द्रमुखी ने अपनी भौजी से अभी पहले पूछा था कि इस बात के जान लेने में तुम्हारा अभिप्राय क्या है। फिर जब उसने बतलाया कि अगर तुमने उन्हें न देख पाया हो, तो मैं आज तुमको उनके देखने में मदद दे सकूँगी। और अब इसी प्रसङ्ग को लेकर चन्द्रमुखी पूछती है कि तुम मुझे इतना अधिक क्यों चाहती हो भौजी?

कोई किसी को क्यों चाहता है, यह तो एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर प्रश्नकर्त्ता पहले अपने में ही ग्रहण कर लेता है। नन्दा यहाँ चन्द्रमुखी को इस तरह अपने हृदय का जो अप्रतिम अनुराग दे रही है, क्या उसकी यह कोई अलौकिक भावना है? वह विधवा है; ऐसी विधवा, जिसने नारीत्व का अनुभव किया ही नहीं, जिसने जाना ही नहीं कि पति का सुख और मातृत्त्व का उल्लास कैसा प्राणप्रद होता है! एक दिन उसका भी विवाह हुआ था और वह दिन अभी तक उसके जीवन में वैसा ही चिरस्थिर, वैसा ही अटल, बना हुआ है। उस दिन वह लज्जा के अगाध में इतनी डूबी हुई थी कि अपनी इन आँखों से उसने कहीं कुछ भी देखा नहीं था। वह सोचती थी, जो अपना है, वह तो अपना हो ही चुका है। उसे अभी देखा तो, और फिर कभी देखा तो; बात एक ही है। उसे देखना क्या, जिसको पाना ही पाना है, बाहर और भीतर दोनों प्रकार से। वह कैसा भी हो और कोई भी हो! अनेक स्त्रियों से आच्छादित उस कोलाहल में उसने इतना भर देख लिया था कि वे हैं। तब उसने समझ लिया था कि इस क्षण के लिए बस इतना भी बस है, पूर्ण है; अब और उसे कुछ नहीं देखना है। किन्तु जिस समय उसने ऐसा सोचा था, उसी निमेष में अदृष्ट कैसी कुटिल हँसी हँस रहा था! मानो वह कहता था—न, यह कुछ भी नहीं है। यह तो केवल कल्पना है, स्वप्न है, छाया है। इसका यथार्थ बहुत दूर है—बिल्कुल उल्टा।

वही नन्दा आज भी है और सोचती है कि हाय ! मैं तो उन्हें देख भी न सकी थी। आज उसने समझा है कि विवाह के समय जो अपने स्वामी को अच्छी तरह देख भी नहीं पाती, वह कैसी हीन है, कैसी क्षुद्र ! आज अपने उस संस्कार के प्रति, नहीं, अपनी नारी-सुलभ उस लज्जा के प्रति, उसके हृदय में विद्रोहाग्नि प्रज्वलित हो उठी है ! जो अभाव उसके जीवन में अमिट होकर उसके अन्तराल का छिद्र हो गया है, वह नहीं चाहती कि उसकी छाया भी, उसकी कल्पना भी इस चन्द्रमुखी को स्पर्श होने दे। आज के इस क्षण का जैसे यही एक चरम संतोष, यही एक मात्र सुख, उसके जीवन का प्राण, उसके अतीत के अनुभव का तात्विक संयोग है।

चन्द्रमुखी के उस प्रश्न के उत्तर में नन्दा क्षण भर मौन रही। अनेक बातें उसके मन में आईं और गईं, अनेक विचार उठे और विलीन हुए। किन्तु अधिक देर तक वह मौन कैसे रहती, ननँद की आशा—उसकी बात—की उपेक्षा कैसे करती ! तब भीतर के मर्म को थोड़ा छूकर उसने कहा—यह बात तुम क्यों पूछती हो बिटिया, इसके कहने में मुझे जितना दुख होगा, तुमको उसके सुनने और सुनकर फिर समझने में और भी अधिक होगा। फिर भी जान पड़ता है, तुम बिना उसे पूछे मेरा पिण्ड न छोड़ोगी। तो फिर सुनो बिटिया, आज से दो वर्ष पूर्व जब मेरा विवाह हुआ था, मैं भी ऐसी ही लाजवंती थी। द्वार पर पहले-पहल पालकी में चढ़कर जब तुम्हारे भैया का आगमन

हुआ, तब छत पर से अक्षत-पुष्प छोड़ते समय भी मैं उन्हें एक दृष्टि में अच्छी तरह देख न सकी थी। उसके बाद क्या हुआ, सो तुम जानती ही हो। खैर, जाने दो इस बात को। भगवान करे, तुम्हारा सुहाग सदा अटल रहे। पर मैं फिर कहती हूँ बिटिया कि अधिकार और संयोग मिलने पर भी जो लोग हँसी-खुशी के साथ उसे सम्हालते नहीं, उसका स्वागत नहीं करते; भगवान भी जान पड़ता है, उसके उस मिथ्या-दम्भ को देखकर कुण्ठित ही होते हैं; मिलन-संयोग की वह उपेक्षा उन्हें भी रुचिकर नहीं होती। उससे वे दुखी ही होते हैं। ... अब मैं जाती हूँ; मुझे आये, देर हो गई।

[९]

कढ़ाई पर एक ओर तो चाची बैठी हुई थीं, दूसरी ओर केदार के मामा, सहदेव। चाची ने जमाना देखा था। भोजन बनाने के काम में नारीजाति की महत्ता, मुख्य रूप से अपने इस देश में सभी को विदित है। चाची भी अब तक चालिस पार कर चुकी थीं। ब्याह उनका हुआ था चौदह वर्ष की अवस्था में। इस तरह छब्बिस वर्ष से अधिक तो गृहस्थी सम्हाले हुए ही उन्हें व्यतीत हो चुके थे। इतने दिनों तक जिसने नित्य ही भोजन बनाने का काम किया हो, कढ़ाई पर जमकर चार-छै घंटे बैठना उसके लिए कौन मुश्किल था!

सहदेव मामा में उत्साह की मात्रा अत्यधिक थी। कठिन से कठिन काम के लिए भी कोई उनसे कह देता, तोभी वे नाहीं न करते थे। सुनते हैं, एक बार वे कहीं किसी दंगल में कुश्ती देखने गये हुए थे। साथ में और भी उनके कई साथी थे। कुश्ती होने लगी थी। थोड़ी देर में कोई एक ऐसा पहलवान मैदान में आगया, जिसका जोड़ ही नहीं मिल रहा था। सहदेव मामा बड़े ग़ौर से उसे देख रहे थे। देखते-देखते उस जगह भीड़ अधिक होगई। कई रेले आये और गये; पर सहदेव मामा लाठी थाम्हे हुए खड़े के खड़े ही रह गये। न तो हिले-डुले, न अपनी जगह से ही टस-से-मस हुए। एक जवान बड़ी देर से उनकी उस ठसकभरी नीति को देख रहा था। अन्त में एक रेला ऐसा आया कि सहदेव मामा के पैर भी उखड़ते उखड़ते रह गये। अपनी जगह पर घूम-फिरकर वे आ तो गये, पर कुछ धक्के भी उन्हें लग ही गये। इसी समय किसी ने हँसी में कह दिया कि ऐसे अकड़े खड़े हैं, मानों उस दंगली पहलवान को पछाड़ने के लिए ही आये हुए हों।

सहदेव मामा ने कभी किसी की बात सहन न की थी। उनका क़ौल था कि जो आदमी किसी की लगती बात सह जायगा, उसका जवाब न देगा, वह मर्द नहीं है। उससे तो औरत भली, जिससे किसी का घर तो बसता है। फिर क्या था! सहदेव मामा ने कपड़े उतारकर अपने साथियों को दे दिये और उस आदमी की ओर देखकर बोले—हाँ, भाई साहब, क्या कहा

था आपने ?.....मैं दंगल हाँकने तो नहीं आया था, क्योंकि मैं पहलवानी का पेशा नहीं किये हुए हूँ; परन्तु जब आपने लगती बात कह दी है, तो मजबूर होकर उस अहीर के घमंड की बानगी लिये बिना अब मैं भी घर लौटकर न जाऊँगा।

सहदेव मामा का इतना कहना था कि उस ओर उत्साह की एक नदी-सी उमड़ पड़ी। कुश्ती लिखी गई। दोनों मैदान में आये। एक पटकी इसने दी, एक उसके जोड़ीदार ने। एक दाँव पर इन्होंने उसे रक्खा, दूसरे से उसने इन्हें लिया। इस तरह दोनों में से कोई किसी को परास्त न कर सका। एक घंटा तक दोनों लड़ते रहे। दोनों पसीने से तर-बतर हो गये। अब एक दूसरे के बदन पर से, आपस में, उनके हाथ फिसलने लगे। अन्त में दोनों की बराबरी से कुश्ती छुड़ा दी गई। फूलों की मालाओं से लदे हुए गाजे-बाजे के साथ सहदेव मामा घर आये।

अब सहदेव मामा की वह अवस्था न रह गई थी। न तो उनका वैसा गठा हुआ शरीर ही रह गया था, न उनमें उस प्रकार की शक्ति ही थी। यह सब कुछ था, तो भी उनकी आदत में कोई अन्तर नहीं आया था। जब उन्होंने देखा कि चाची के साथ कढ़ाई पर बैठनेवाला और कोई नहीं देख पड़ता, तो सहदेव मामा ने कहा—अच्छी बात है। तो फिर हमीं बैठ जायँगे। उनके जवानी के दिनों में तो दो-चार बार ऐसा अवसर आ चुका था; पर इधर दस-बारह वर्षों से कोई ऐसा प्रसंग नहीं आया था। चाची पूड़ियाँ छोड़ती थीं, सहदेव मामा उन्हें उलटते-पलटते और

निकालते थे। तीन घंटे तक तो वे किसी तरह जमे रहे; पर फिर उनका आसन डोल गया। जलते हुए घी के धुएँ की कुछ ऐसी भस उनके भीतर समा गई कि उनकी साँस उखड़ आयी।

हरिनाम अब तक बाहर के प्रबन्ध में लगा हुआ था। काम से छुट्टी पाकर जो भीतर आया, तो क्या देखता है कि सहदेव मामा उठ खड़े हुए हैं। अब चाची के साथ बैठनेवाला कोई और खड़ा ही नहीं होरहा है। उधर कड़ाही का घी जल रहा है। उसने इधर देखा, उधर देखा। उसी समय नन्दा उसे एक ओर कुछ अस्त-व्यस्त-सी देख पड़ी। वह घूँघट काढ़े हुए चाची से कह रही थी कि अब क्या होना चाहिये। और तो कोई ऐसा देख नहीं पड़ता, जो इस वक्त काम आसके। अभी चार मन पूड़ी-कचौड़ी सेंकने को हैं। मैं बैठती हूँ, तो बाहर का काम सम्हालने-वाला कोई न रहेगा। इसी समय उसे ऐसा स्वर सुन पड़ा, जैसे हरिनाम आ गया। वहीं खड़े-खड़े उसने घूँघट के आवरण से झाँक कर देखा, तो उसका अनुमान सच निकला। झट से वह हरिनाम के निकट आकर बोली—अरे हरी, क्या तुम इस काम को नहीं सम्हाल सकोगे ?

हरिनाम उसकी ओर उद्यत-सा होकर बोला—क्यों नहीं, सम्हाल सकूँगा भौजी ! तुम्हारा संकेत पाकर संसार में कौन-सा ऐसा काम है, जिसे मैं कर नहीं सकता !

नन्दा उसके इस उत्तर को पाकर एकदम से सन्न रह गई ! उसके भीतर की समस्त यंत्रणा, अन्तर का सारा अवसाद हरी

के इस एक उत्तर से ध्वस्त-सा हो गया। आज उसने जान पाया कि अपने इस जीवन में उसे यही एक ऐसा व्यक्ति मिला है, जिसको देखकर ही वह अपनी सारी हीनता भूल सकती है, जिसे अपनाकर वह अपने इस जीवन के अखिल अभिभोग को समाप्ति तक पहुँचा सकती है। परन्तु इस भाव में एक ओर जैसे उसका हृत्पिण्ड उत्तरंग हो-होकर दोलन करने लगा, वैसे ही समाज के दारुण कशाघात और उसके दुर्निवार तिरस्कार का ध्यानकर उसका मुख विवर्ण हो गया। भीतर का प्रशान्त ज्वालामुखी फिर पूर्ववत् धधकने लगा। निमेष मात्र में धूप-छाँह का-सा पट-परिवर्तन होगया। किन्तु अधिक मौन रहने का वह समय नहीं था। गम्भीर स्वर में उसने उसी क्षण कह दिया—तो जाओ न, खड़े क्यों हो ?

कुछ पुरुष संसार में ऐसे भी होते हैं, जो तैरने का ककहरा भी नहीं जानते; फिर भी तैराकों के साथ-साथ अधिकाधिक गहराई तक जल-मग्न होने में भी जिन्हें विशेष भय नहीं मालूम होता। संसार इस श्रेणी के पुरुषों को अविवेकशील, दुस्साहसी और उच्छृङ्खल मानता है। हरिनाम भी इसी प्रकार के व्यक्तियों में से है। इस प्रकार के काम में, अब तक के जीवन में, वह कभी नहीं पड़ा था। प्रसंगवश उसे आज उसमें भी लगना ही पड़ा। चाची पूड़ी छोड़ रहीं थीं, हरी से उन्होंने कहा कि जैसे-जैसे पूड़ियाँ सिकती जायँ, उन्हें निकाल-निकालकर हत्थे पर रखते जाओ। जब आठ-दस इकट्ठी हो जायँ, तो उस तरफ़ के

ढेर में रखते जाना। हरी इसी तरह, उनके आदेशानुसार, काम करता रहा। धीरे-धीरे उसे बोध हो गया कि कब पूड़ी पक जाती है और कब सिउरी या कच्ची रहती है और कब ज़रा-सी देर या असावधानी करने से जल जाती है। कई घंटे तक वह बराबर जमा बैठा रहा। उसकी तत्परता, चतुरता और सावधानी देखकर किसी को भी यह विश्वास न हो सका कि हरी के लिए यह काम सर्वथा नवीन है। काम क़रीब-क़रीब समाप्त हो चुका था। इसी समय नन्दा चाची के निकट आकर कहने लगी—आलू-गोभी का शाक कटकर तैयार है, पहले उसी को इस कड़ाह में छोड़ना होगा। बैंगन इसमें आ भी न पायेंगे। उन्हें दूसरे बड़े कड़ाह पर पकवाऊँगी। ठीक है न चाची ?

चाची ने कहा—हाँ-हाँ, ठीक है।

इसी समय, पूड़ियों से भरे हत्थे को मज़बूती के साथ थाम्हे हुए हरी दूसरी ओर ले जाने ही वाला था कि नन्दा की ओर भी एक दृष्टि डालने में उसके हत्थे पर की सारी पूड़ियाँ उस कड़ाह में ही छूट पड़ीं। यद्यपि उस समय घी कड़ाह में बहुत कम रह गया था, तो भी उसके छींटों से वह किसी तरह अपने को बचा न सका। तुरन्त चाची बोलीं—अरे! बचना हरी। परन्तु उनके कहने के पहले ही कई छींटें उसकी नंगी छाती पर जा पड़े। किसी स्त्री ने कहा—तिल का तेल लगा लो झट से, किसी ने कहा—नमक पड़े हुए पानी से धोने से भी छाले नहीं पड़ते। किसी ने बतलाया—घर की बनी स्याही पोतने से जलन

तुरन्त मिट जाती है । तब तक नन्दा और साथ में बुआजी आ पहुँचीं । बुआ बोलीं—मैं तो पहले ही कहने वाली थी कि हरी कभी कड़ाही पर बैठा नहीं है; पर फिर कुछ सोचकर रह गयी ।.....देखूँ तो ज़रा, कहाँ कहाँ छिटक पड़ा है ।

नन्दा ने कहा—चलो, उधर ऊपर चलो । वहीं मैं तिल का तेल लगा दूँ । मैं क्या जानती थी कि तुमको कड़ाही पर बैठने का अभ्यास नहीं है । तुमने भी नहीं बतलाया । नाहीं-नूहीं तक न की । ओह ! ऐसा अगर मैं जानती, तो तुम्हें कभी इस तरह का काम न सौंपती ।

आगे-आगे हरी चला, पीछे-पीछे नन्दा और बुआ जी । ऊपर जाकर हरी चारपाई पर बैठ गया । उसकी पीठ के पीछे बुआजी । नन्दा हरी के छाती पर के छीटों में तिल का तेल लगाने लगी ।

दुनियाँ वही जानती है, जो ऊपर से देखती है । भीतर से देखने की तमीज़ दुनियाँ कब सीखेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता । आज इस घर का समस्त उपस्थित जनसमुदाय इस समय यही समझता है कि हरी घी के तप्त छीटों से जल गया है । "देखो तो, घर का मान्य लड़का बेचारा व्यर्थ ही में इस तरह क्लेश में जा पड़ा । अरे और भी थोड़ी देर तक अगर सहदेव मामा वहाँ बैठे ही रहते, तो उनका क्या बिगड़ जाता । बुड्ढे तो हो रहे हैं । कौन उन्हें संसार में और

कुछ अधिक देखना-सुनना बाक़ी है !"...बुआ समझती हैं—"बहू ने ही उससे कहकर वहाँ आग में भुनने के लिये भेजा था। नहीं तो काहे को मेरे हरी को इतनी तकलीफ़ होती! और वह ख़ुद भी तो कम नहीं है, कोई किसी भी काम के लिए कहे, नाहीं कभी करेगा ही नहीं। जैसा वह है, वैसा भोगता है।"

किन्तु हरी के मन की बात को कोई नहीं जानता। कौन जानता है कि उसने आज ही पहले-पहल इस तरह के सुख का अनुभव किया है। इतने निकट से वह इस अंनग-लता को प्राप्त कर रहा है। उसके प्रश्वास-प्रकम्पित वक्षोजांबुज कंचुकी के अन्तःपुर से अपना जो अभिनव अस्तित्व झलका रहे हैं, वे उसके प्राण को कितना अमृत देते हैं, कितना उल्लास; कैसा नवल जीवन और कैसा माधुर्य्य, यह उस हरी के सिवा और कौन अनुभव कर सकता है?

वे छींटे हरी की छाती के ठीक ऊपर हैं। नन्दा उन पर तेल लगा रही है; और हरी कहता है—हाँ, यहीं ज्यादा जलन है, यहीं। थोड़ी इस ओर भी है। हाँ, बस यहीं।

किन्तु यह हरी कितनी मिथ्या-सृष्टि कर रहा है इस समय! माना कि यह जलन भी है कुछ। किन्तु जलन क्या यहीं है, या इतनी ही है? क्या और कहीं भी, किसी तरह की जलन, या और कुछ, है ही नहीं?

अब इस नन्दा को देखें। जब से बुआजी ने कह डाला कि "मैं तो कहते-कहते रुक गई कि मेरा हरी कढ़ाई पर कैसे बैठेगा? भला कभी और भी कहीं बैठा है कि आज ही बैठेगा!"—तब से इस हरी को जैसे वह कुछ-कुछ जान गई है। किन्तु उसका यह ज्ञान भी एकदम नया नहीं है। कल से ही वह अनेक प्रकार से इस हरी को जान रही है। कहीं कोई संशय यदि रह भी गया था, तो वह अब पूरा हो गया है। और तमाशा यह है कि फिर भी, ऐसे समय में, जब कि सचमुच उसे थोड़ा कष्ट होना ही चाहिए, जब उसकी माता ही उसे गोद में लिये बैठी है, तब भी अपनी प्रकृति से, सुख-दुख के ऊपर भी शासन करनेवाली अपनी पिपासाकुल भाषा से, वह बाज़ नहीं आया। देखो तो उसकी ढिठाई को!—कह रहा है—हाँ, बस यहीं ज्यादा जलन है, यहीं!

तेल झट से लगाकर नन्दा और अधिक वहाँ ठहरी नहीं। अपने भीतर के मर्म को, इस कष्ट में भी अठखेलियाँ करनेवाली हरी की शब्दावली को और उससे उत्पन्न अपने तरंग-तरलित मनोभावों को, होठों तक लाकर फिर वापस करने में उसे अपने को कितना मसोसना पड़ा, नारीत्व के स्वाभाविक चटुल हास को गम्भीरता के आवरण में बाँधकर किस सीमा तक अपने अणु-अणु को वह मर्यादित रख सकी, यह उस नन्दा ही ने जाना।

दिन किसी तरह बीता। इस अवशेष दिन में किस तरह झरोखे से चन्द्रमुखी को उसने उसके स्वामी को देखने का

अवसर दिया, फिर मीठी-मीठी चुटकियाँ लेकर, उसके मन को गुदगुदाकर, कैसे उसने अपने को एक अकल्पित तृप्ति से सन्तुष्ट किया, इसको कैसे बताया जाय !

केदार के इस मकान के दूसरे खंड में दो कमरे हैं। खुली हुई दूर तक फैली हुई छतें हैं और बरामदे भी। आज हरी मकान की बाहरी चौक में अपने अन्य साथियों के साथ अधिक बैठने नहीं गया। कुछ तो असुविधा के विचार से और कुछ जान-बूझ कर।

रात आयी। दिन में और इस रात में भी कितने आदमी घर के भीतर आये और गये, कितने प्रकार की बातें उत्पन्न हुईं, उठीं और चली गईं, कौन जाने ! जैसे अनन्त जल-राशि में उठने और विनष्ट होनेवाली लहरों को कोई गिनने नहीं बैठता, जैसे चिड़ियों के फुदकने और गिलहरी के डाल-डाल पर बार-बार दौड़ने की गणना नहीं होती, वैसे ही उस दिन नन्दा मन ही मन कै बार लजाई, कै बार विरक्त हुई, कै बार उसने चन्द्रमुखी को और अपने आपको देखा और तोला, कितनी बार उसके मन में चुपचाप हरी आ-आकर बैठ गया, फिर उसको लेकर किस-किस प्रकार की कल्पनाएँ उसके मानस के घाट पर उतरीं, यह सब भी हम छोड़ ही देना चाहते हैं।

बरात के लोग खा-पीकर चले गये। घर के आत्मीय लोग तथा नातेदार भी खा-पी चुके। हरी ने भी सब के साथ ही बैठकर खाया। किन्तु तब भी वह अन्यमनस्क हो रहा।

जो आदमी दिनभर लोगों को हँसाया करता हो, वही जब गुम-सुम रहे, तो यह बात और लोगों को चाहे न खले, किन्तु जो लोग अपने को उस पर अवलम्बित रखने लगते हैं, उनको तो खलनी ही चाहिए।

केदार ने कहा—हरी भैया को आज तकलीफ़ क्या होगई, मेरा तो जैसा सारा आनन्द ही खो गया।

वीरेन्द्र बोला—तुम थे कहाँ उस वक्त, जब इनको कढ़ाई पर बिठा दिया गया! मैं होता तो इस तरह के काम में मैं उन्हें कभी न पड़ने देता। मुझे आज की इस घटना का इतना दुःख हो रहा है कि उसे मैं ही जानता हूँ।

हरी इन लोगों की इन बातों को सुनकर इतना मर्माहत हो गया कि अपने सोचे हुए समस्त सुयोग को क्षुद्र—नितान्त क्षुद्र—समझने लगा। स्नेह के बन्धन को ही वह सदा जीवनमय मानता आया है। कहाँ, किस स्थल पर किस-किस का मोह है, कौन-कौन उससे किस-किस प्रकार की कामना रख रहा है और किस-किस को चाहे जिस तरह से हो, उसे निबाहना ही पड़ेगा, यही तो उसके दिन-रात के हृदय-मन्थन का विषय रहा है। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि किसी के अधिकार की गुरुता की उपेक्षा वह कभी नहीं कर सका। जब उसने देखा है कि एक स्थल ऐसा भी है, जहाँ वह हठ नहीं कर सकता, जहाँ वह सदा के लिए विवश है, समर्पित है, तब अन्य सब छोटे-मोटे स्नेह-बन्धनों के प्रति वह निर्मोही भी बन गया है। किन्तु यह

बात तो केवल सिद्धान्त रूप से उसने अपने मन में रख छोड़ी है। कभी ऐसा अवसर ही उसके जीवन में नहीं आया कि उसके हृदय के एकान्त कोने में कोई इतने बड़े अधिकार से आकर बैठ गया हो कि उसके आगे उसकी एक न चली हो। हाँ, यह नन्दा ही अब एक ऐसी है, जिसने उसको, जान पड़ता है, अपनी मुट्ठी में दबाकर रख छोड़ना चाहा है। किन्तु वह तो विधवा है।

हरी जानता है कि एक विधवा के साथ उसके मन का मिलन कैसा! न संसार की दृष्टि से, न अपने धर्म-कर्म की दृष्टि से, किसी भी तरह से, विधवा की आत्मा में बैठने की सामर्थ्य इस हरी में नहीं है। आज अनेक बार यही सब तो हरी ने सोचा है। सोचा तो है उसने, किन्तु उस विचार में भी उसकी अब तक की कोई आस्था नहीं है। आज वह जो चाहे सो सोच ले, जो चाहे सो मान ले; पर अब तक का उसका मत ऐसा नहीं रहा है। प्रेम के मार्ग में विधवा क्या है और सधवा क्या, संसार क्या है और समाज क्या! वह स्वयं क्या है और उसका धर्म-कर्म क्या! वह तो एक अस्पर्श्य अनुभूति है, एकदम से लोकोत्तर। उसमें कलुष तो कहीं छू नहीं गया। वह तो उपासना की वस्तु है, साधना की। किन्तु यह तो कोरा सिद्धान्त है हरी। न, इस नारी के साथ इस तरह वह निभा न सकेगा! किसी तरह नहीं। प्रेम ऐसा सीमित कहाँ होता है! इतना ही है, इससे आगे नहीं, ऐसी बात प्रेम के सम्बन्ध में

वह नहीं मानता। वह जिसको चाहता है, उसको निर्बाध रूप से चाहता है, उसमें फिर कहीं कोई कोर-कसर नहीं रखना चाहता। वह जिसे चाहेगा, जिसे अपने में स्थान देगा, उसे सभी तरह से चाहेगा, सभी रूपों में चाहेगा। तब यही कैसे सम्भव है कि उसे केवल दूर से ही पूजा करने की वस्तु मानता रहे! न, यह उससे न हो सकेगा!

आज दिन भर हरी ने अनेक तरह से इस प्रश्न की समीक्षा की है। चारों ओर से घुमा-फिराकर वह इसे सोचता रहा है। किन्तु कभी ऐसा नहीं हुआ, जब किसी बार भी उसके मन में न आया हो कि 'वह तो विधवा है।' फिर जब-जब उसे इस एक शब्द ने अस्त-व्यस्त किया है तब-तब उसे यही अनुभव हुआ है कि यह सब जो कुछ भी उसके मन में रस का स्रोत-सा फूट निकला है, मिथ्या है, क्षुद्र है, व्यर्थ है। वह विधवा है, विधवा है, विधवा है। उसे विधवा ही रहना है।

उस समय जब केदार और वीरेन्द्र ऊपर लिखी बातें कर रहे थे, तब भी जान पड़ता है, वह इसी विचार में दृढ़ था। इसीलिये उसने तैकर लिया कि वह इस समय अब यहीं, इन लोगों के पास ही सोयेगा। वह सब जो उसने सोचा था कि वहाँ छत पर भी वह सो सकता है, वह कुछ नहीं था, यों ही उसका वह सोचना था; व्यर्थ-सा, भ्रम-पूर्ण-सा।

तब इन लोगों की इन बातों के संबंध में कुछ न कहकर उसने केदार से ही कहा—तुम लोग तो अपने-अपने बिस्तर

लगाकर निश्चिन्त होकर आ बिराजे, अब मेरा भी कहीं सोना होगा, या इस तरह उठल्लू-सा ही मुझे यहाँ बैठे रहकर सारी रात तुम लोगों की इन बातों में ही बितानी पड़ेगी!

बात की शुरुआत हरी ने गम्भीरता से की थी, किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसमें कण्ठ की कुछ ऐसी अद्भुत लोच सम्मिलित हो गई कि केदार और वीरेन्द्र दोनों के दोनों हँस पड़े।

किन्तु फिर भी हरी की बात की उपेक्षा कैसे होती! केदार ने हँसने के साथ ही कहा—मैं तो डर रहा था हरी भैया, कि दिन की भाँति, कहीं रात को भी तुम बुआ के निकट ही न लुढ़क रहो। किन्तु जान पड़ता है दिन भर की कसर अब इस समय निकाल लेने का अवसर मिल ही जायगा। मैं अभी खुद बिस्तर ले आकर तुम्हारी चारपाई बिछाये देता हूँ। परन्तु एक बात मैं अभी से कहे देता हूँ। कुछ देर तक तुमको बातें अभी ज़रूर करनी होंगी भैया! मैं किसी तरह अभी तुम्हें सोने न दूँगा; क्योंकि दिन को तुम एक गहरी नींद ले चुके हो। मैं खुद जाकर तुमको सोते देख आया था एक बार।

"हाँ—हाँ केदार, मेरे मन की बात तुमने कहदी"—वीरेन्द्र भी चट बोल बठा।

केदार इतना कहकर भीतर चला गया।

हरी बोला—निउतनी के वक्त मैं तो जनवासे में जा न सका था; किन्तु सुनता हूँ, मिस शाहजादी का कोई अच्छा गाना हुआ था।

वीरेन्द्र बोला—हाँ हुआ तो था। लेकिन तुमने कैसे ख़बर पाई ?

हरी ने कहा—क्या बताऊँ कैसे ख़बर पाई ! ख़बर यों नहीं मिल जाती। ख़बर के लिए कुछ ख़र्च करना होता है ! इसके सिवा एक बात और है।...लेकिन वह बात तो अब मैं बताने से रहा ! हालांकि उस बात के प्रकट करने में अब मुझे किसी तरह का अफ़सोस नहीं होना चाहिये। लेकिन क्या करूँ, नाते-रिश्ते का ख़याल तो करना ही पड़ता है।

केदार अब आगया था। आते ही उसने एक चारपाई घसीट कर झट से बिस्तर बिछा दिये; क्योंकि उसके कान हरी के कथन की ओर लगे हुए थे।

इसी समय हरी अपनी चारपाई पर आगया।

केदार अपनी चारपाई पर बैठते हुए पूछने लगा—क्या बात चल रही है ज़रा मुझे भी बता दो भैया। नहीं तो तुम्हारे बिस्तर लाने में मेरा जो समय लगा है, उसके बेकार जाने का दुःख मुझे रात भर सोने न देगा। सच भैया !

वीरेन्द्र ने बतलाया कि निउतनी के समय मिस शाहज़ादी ने जो गाना गाया था, हरी भैया को भी उसकी ख़बर लग गयी। मैंने जब उसके बारे में पूछा कि तुमने कैसे जाना, तब उसी के उत्तर में इन्होंने वह बात कही थी, जो तुम अभी सुन चुके हो।

हाँ, तो उसे कही डालो अब हरी भैया। खाना पचा लेने से जिस तरह स्वास्थ्य सुधरता है, उसी तरह मेरा विश्वास है कि बात पचा लेने से मनुष्यता का उल्लास क्षीण होता है।" वीरेन्द्र ने कहा।

हरी बोला—यही सोचकर मैं उसे कह डालना चाहता था; लेकिन मुश्किल यह है कि न तो इस समय मच्छरों का यहाँ ऐसा आधिपत्य है कि बुड्ढों को नींद न पड़ती हो, न ऐसी अधिक गरमी ही है कि बिना पंखा डुलाये भीतर साँस ही न समाती हो! फिर भी सहदेव मामा देखो कैसी करवट बदल रहे हैं! हालांकि किसी की छिपी हुई बात कभी कोई प्रकट करना पसन्द नहीं करता, लेकिन जब बदन में पड़े हुए छाले साले बनने को तैयार होजाते हैं, तब फिर मुझे उनकी ख़ातिरन मुँह खोलना ही पड़ता है। नहीं तो, योंभी मिस शाहज़ादी कोई न कोई गाना गाती हीं। जब पचास रुपये ठना-ठन रोज़ गिनाती हैं, तब बिना मौक़े की, महफ़िल-पसन्द, कोई चीज़ सुनाये बिना उनका निस्तार हो कैसे हो सकता था! फिर भी जाने कहाँ से तिरसठ हज़ार नौ से नम्बर का, पाँच रुपये का वही नोट, जो स्नान करते समय सहदेव मामा ने तुमको दो मिनट के लिए रख छोड़ने को दिया था, बिल्कुल वही नोट, क़सम से कहता हूँ वही, मिस शाहज़ादी के पास जा ही पहुँचा! अब तुम्हीं लोग बतलाओ कि ख़ैर साँस तो उखड़ने की उनकी उमर ही है; लेकिन भाई बड़े-बूढ़ों की बात है, कौन कहे, और कहे भी तो कैसे मुँह खोले! इसीसे मैं

किसी से कुछ कहता नहीं। कहके रहूँगा कैसे और जाऊँगा कहाँ,...हरे हरे ! शिव शिव !! घोर कलयुग है घोर !!!

सहदेव मामा इसी समय उठकर बैठ गये। विस्फारित नेत्रों से, नासिका के दोनों रन्ध्रों को फुलाकर, बड़े आवेश के साथ, बोले—मैं बड़ी देर से हरी की यह शैतानी देख रहा हूँ। वह बड़ा बदमाश हो गया है। सबेरा होते ही मुझे बहिनजी से कहना ही पड़ेगा। देखो तो मुझे ऐसा कलंक लगाता है।—मुझे !! यह कलियुग नहीं तो और क्या है ?

हरी ने सिर नीचा करके बहुत धीरे से कह दिया—यही तो अभी मैं भी कह रहा था !

"हाँ, कह रहे थे। तुम जो कह रहे थे, उसे मैंने भी सुना था। इसीलिए मुझे कहना पड़ता है—तुम बिल्कुल गधे हो, बदतमीज़ कहीं के !"

हरी ने उसी तरह मन्द स्वर में कहा—अब जैसा कुछ हूँ, हूँ तो आप ही की संतान !

अब तो सहदेव मामा आगबबूला हो गये। खूब ज़ोर से चिल्लाकर बोले—मैं अभी बहिन जी से जाकर कहता हूँ !

अब और बात बढ़ाने का समय नहीं था। वीरेन्द्र और केदार दोनों उठकर सहदेव मामा के पास जा पहुँचे। बोले—आप भी हम लड़कों से उलझते हैं। हम लोग तो आपस में

बैठे मनोविनोद कर रहे थे। अगर बुरा न मानें तो एक बात कहूँ, मान लीजिये कि आपने बुआजी से कह ही दिया—तो इसमें आपकी कोई नामवरी तो होगी नहीं। एक तो बात में कोई तत्त्व नहीं, फिर भी यदि वह फैल ही गयी तो नतीजा आप सोच लीजिये। आप खुद समझदार हैं, बुजुर्ग हैं, और ज्यादा मैं क्या कह सकता हूँ?

अब सहदेव मामा ने शान्त होकर, थोड़ी प्रसन्नता-सी झलकाकर, कहा—तो हँसने-हँसाने और बनाने के लिए मैं ही एक रह गया हूँ क्या?

केदार ने बोला—अब जाने भी दो मामा। क्या तुम भी...!

हरी तुरन्त आकर उनके पास खड़ा हो गया और बोला—न, मैं तुमको नाराज़ किसी तरह न होने दूँगा। ये लो, तुम्हारे पैर पड़ता हूँ। अब तो मुझे माफ़ कर दोगे न?

तब सहदेव मामा ने झट से लपक कर हरी का हाथ पकड़ लिया। बोले—अरे न दुष्ट, मुझे नर्क में क्यों डालता है! जाओ-जाओ, सोओ अब! बड़ा शैतान है तू। कल भी तेरी बातें देर तक सुनता रहा था!

हरी फिर भी बोला—तो आपने माफ़ कर दिया न?

सहदेव मामा ने कहा—अच्छा जाओ, माफ़ कर दिया!

"तो अब तो कभी मेरे कहने का बुरा न मानोगे?"

"अच्छा, सो भी सही। तुम लोग जिसको एक बार फाँस पाते हो, उसको किसी तरह छोड़ते नहीं। अगर मैं ऐसा समझता·····।"

"तो तुम लोगों से कभी न उलझता" वीरेन्द्र—धीरे-धीरे कहता गया !

तीनों जब अपने-अपने बिस्तरों पर पहुँचे, तो सब से पहले केदार ने कहा—ग़ज़ब हो गया !

वीरेन्द्र ने कहा—कल्पना को सत्य के ऊपर बैठा दिया।

अब हरी कहने लगा—तुम लोग जब यहाँ से उठकर उन्हें मनाने जा पहुँचे, उसी समय हरिचंद कक्का भी हड़बड़ाकर उधर जाग पड़े। बड़ी घबड़ाहट में आकर पूछने लगे—क्या हुआ ! हुआ क्या ! फिर जब मैंने उन्हें समझा दिया कि कोई बात नहीं है, हम लोग आपस में हँस रहे थे कि सहदेव मामा हम लोगों के बीच में पड़कर बिगड़ खड़े हुए।—तो वे बोले—"बौड़म हैं वे, पूरे बौड़म" !··· अभी अभी वे फिर लेटे हैं !

वीरेन्द्र बोला—मज़ा तो तब आता जब सारी बातें खुल जातीं !

हरी ने कहा—तब तो ये घर-घर ख़ुद ही अपनी सफ़ाई देते फिरते !··· इसी तरह के आदमी ताव में आकर आत्महत्या कर लेते हैं। ··· अगर मैं मिस शाहज़ादी से दो मिनट भी मिल पाऊँ और ज़रा-सा ही उसको उकसा दूँ, तो इसी मामले को शान्त करते-करते इनके सौ-पचास रुपये ठंढे हो जायँ। सर्वत्र किरकिरी हो जाय, सो अलग। और तमाशा यह है कि बात कुछ भी नहीं है !

केदार बोला—न हरी भाई, अब बस करो। बहुत हो गया !

हरी ने कहा—अरे ! तुम भी पागल बनते हो ! ऐसा मज़ाक़ मैं ख़ुद पसन्द नहीं करता ! तब वह मनोरंजन न होकर मनो-भंजन हो जायगा !

[६]

नन्दा जब खाना खाकर उठी, तो तुरन्त उसे याद हो आया कि आज इस समय तक हरी ने आकर पान नहीं माँगे। साथ ही उसे यह भी स्मरण हो आया कि आज दोपहर के बाद से न तो उससे मिलना हुआ, न अपनी ओर से आकर उसने कोई बातचीत ही की। क्या उसे कोई कष्ट है ? नहीं, कोई वैसा कष्ट तो है नहीं। छाती पर कुछ छाले ज़रूर पड़ गये हैं, लेकिन उनके कारण कोई वैसा कष्ट तो है नहीं कि कहीं आ जा न सके, या किसी प्रकार की बातचीत करने में उसे किसी विशेष कष्ट का अनुभव हो। तब क्या बात है, जो उसने आकर लालसा भरे मृदुल कंठ से नहीं कहा कि "भौजी, पान नहीं खिलाया !"

साधारण रूप से, स्नेह की—स्निग्ध, किन्तु विकार-हीन—भावना से उसने अभी इतनी-सी बात ही अपने अन्तर में सजग पुलकित रूप में पायी थी। किन्तु इसी क्षण उसकी इस निष्पाप भावना को अकस्मात् एक दारुण आघात के आक्रमण ने छिन्न-भिन्न कर दिया। वह सोचने लगी—हरी आख़िर मेरा है कौन ? तब इसी एक प्रश्न ने उसके समस्त उल्लास को, उसकी सारी सजीवता को, क्षण भर में क्षत-विक्षत कर डाला।

उस क्षण उस नारी के मन में एक बार आया—यह हरी उसका कोई नहीं है। पर इस बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ। इस विचार ने दृढ़ता का कोई स्थल उसके भीतर नहीं पाया। तब फिर उसके आन्तरिक कानों में कोई स्वर गूँज उठा—नारी के लिए पुरुष और पुरुष के लिए नारी यदि कोई नहीं है, तो फिर यह संसार कोई चीज़ हो नहीं सकता।...ठीक तो है, डंके की चोट पर रात-दिन हमने यही तो सुना और पढ़ा है कि यह संसार कुछ नहीं है, इसमें सभी कुछ मिथ्या है।...किन्तु इस मिथ्या के भीतर एक तत्त्व भी है, और वह है सत्य का ग्रहण। अब हमें देखना है कि सत्य क्या है।—क्या यह सत्य नहीं है? क्या हरी सपना मात्र है? और क्या यह सत्य नहीं है कि वह नारी है—निरीह एकाकिनी, अवलम्ब-हीन नारी! अब उसका कोई है नहीं। दुनियाँ कहती है कि कोई था उसका। होगा, लेकिन उसे तो उसका स्मरण तक नहीं है! रहा होगा कोई, इससे उसको क्या? दुनियाँ कहती है, तो दुनियाँ के लिए होगा, मेरे लिए तो वह कभी हुआ नहीं। क्या यह सत्य नहीं है?

बार-बार उसके भीतर आया और गया कि यह सभी सत्य है। किसी प्रकार कोई भी कारण उसके इस विचार को धुँधला क्षीण या शिथिल न कर सका। तब उसके मन में आया कि नारी के लिए कुछ-न-कुछ आधार तो होना ही चाहिये। किसी को अपनाये बिना वह टिकेगी कहाँ? जब उसकी आत्मा इधर-उधर भटकेगी, तब उसे विश्राम के लिए कोई स्थल तो होना ही

चाहिये। रात भी जब थक जाती है, तब दिन आता है। फूल की पीठ पर कली का हाथ रहता है। कृष्ण के बिना राधा की क्या गति हुई ? राम ने सीता का त्याग तो किया, लेकिन फिर अनुताप कैसा पाया ?

किन्तु इसी क्षण उसे याद आया कि उसका तो विवाह हुआ था, उसने तो भाँवरें फिरी थीं, उसने अपनी आँखों से एक प्रतिमा-सी देखी भी थी। साथ ही यह भी अनुभव किया था कि वह उसीका है, एकमात्र उसीका है। तब दूसरे की कांक्षा वह क्यों करे ? संसार कहता है कि वह एक यात्री था। उसने अपनी यात्रा पूरी करदी। तुम उसकी अनुचरी हो, तुम्हें भी अपनी यात्रा पूरी करनी होगी। दूसरी ओर तुम जा नहीं सकतीं; क्योंकि तुम्हारा पथ निर्धारित है। तुमको यात्रा तो पूरी ही करनी होगी, इसमें तो अन्तर आ नहीं सकता। साथ ही इस बात की भी क़ैद है, शर्त है, कि रास्ता भी वही हो जिससे तुम्हारा स्वामी गया है। और यह तो सत्य है ही कि कोई तुम्हारा स्वामी था।

नन्दा इस कठोर सत्य को कैसे अस्वीकार करती ?

तब उसने यही निश्चय रूप से मान लिया कि हरी उसका कोई नहीं है।

खाना खाकर आने के पश्चात् बटुए से सुपारी निकालकर सरौते से कतरने और दो-ठो पान लगाने में जितनी देर लगती है, उतनी ही देर में नन्दा यह सब सोच गयी।

इसी क्षण किसी के आने की पदध्वनि हुई। नन्दा ने देखा कि वह पदध्वनि जिसकी थी, वह उसके सामने आखड़ा हुआ। किन्तु आते ही उसने पूछा कि अम्मा कहाँ हैं ?

नन्दा को यह बात कुछ खटकी। आज उसने न तो भौजी से बात की, न पान माँगा, जबकि वह उसीके सामने बैठी हुई पान लगा रही है; फिर उसने पूछा भी तो माँ को। बात की बात में वह अप्रतिभ हो गई। अपरूप भंगियों से उसका मुख विवर्ण होगया। उसने अनुभव किया कि यह तो उसकी उपेक्षा है, अनादर की पराकाष्ठा।

नन्दा हरी के इस प्रश्न पर बोली नहीं। बुआजी सो गई थीं। चाची भी जाकर लेट रही थीं और हारी-थकी होने के कारण उन्हें निद्रा देवी ने आत्मसात कर लिया था। उस समय वहाँ और कोई भी ऐसा नहीं था, जो हरी के इस प्रश्न का उत्तर देता।

किन्तु हरी ने नन्दा का यह निरुत्तर भाव विस्मय से नहीं ग्रहण किया, उसके प्रति क्रोध की भावना ने भी उसका स्पर्श नहीं किया; और अपने अनादर की तो उसने कल्पना तक न की। हाँ, एक प्रकार की दया का भाव ही उसके मन को छूने आया। वह सोचने लगा—जो हृदय निरन्तर गल-गल कर निर्वाण होने के लिए रह गया हो, वह यदि कभी किसी प्रकार के चिन्तन में अनुपस्थित भी हो जाय, तो यह तो निरी स्वाभाविक बात है।

इस विचार के साथ ही उसने कहा—जान पड़ता है, अम्मा सो गई हैं। क्यों भौजी ? हाँ, आज दिन भर मैं यही मन ही मन गुनता रहा कि तुम जो फ़ौरन ही उठकर इन छीटों पर तेल न लगा देतीं भौजी, तो मुझे कितना कष्ट होता, मैं कह नहीं सकता ! देखो न, छाले तो दो-तीन ही असल में उभड़े हैं भौजी, और वो ऐसे मामूली ही हैं, एक-आध दिन में उनकी ऊपर की झिल्ली भर उतर जायगी और खाल का भीतर का नया पर्त ऊपर आजायगा।···और भी एक बात है। किसी-किसी का हाथ ही प्रतापी होता है ! हमारे गाँव में जगमोहन तिवारी एक वैद्य हैं। वैद्य क्या हैं, असल में हैं तो ज्योतिषी; पर साथ-ही-साथ वैद्यकी भी करते हैं। क्या बताऊँ भौजी, उनका कुछ ऐसा प्रतापी हाथ है कि सड़क पर पड़ी धूल भी उठाकर अगर किसी मरीज़ को दे देते हैं, तो वह भी उठकर चंगा हो जाता है। ऐसा ही प्रतापी हाथ तुम्हारा भी जान पड़ता है भौजी। लोहा भी छू दो तो वह सोना हो जाय ! सच !

नन्दा ने अभी क्षणभर पूर्व ही तो अपने मन में एक विचार जमाया था। वज्र के समान दृढ़ होकर उसने निश्चय किया था कि जो उसका स्वामी था, उसकी स्मृति, उसकी छाया मात्र तक, उसके लिए अवलम्ब है, आश्रय है, जीवन भर का आधार है। उसीको अपने भीतर धारणकर वह इस जीवन-यात्रा को पार कर लेगी। हरी उसका कोई नहीं है, बिल्कुल भ्रममात्र है वह। किन्तु अब इसी क्षण भर में हरी के इन

शब्दों ने उसके समस्त संकल्प को फिर छिन्न-भिन्न कर डाला। फिर रह-रह कर उसका हृदय इस हरी को लेकर आन्दोलित हो उठा। तब अग्रिम दन्तद्वय झलकाते हुए, मदिर हास के झकोरे में, उसने कहा—चलो जाओ, तुम भी किसी भाट-जागा से कम थोड़े ही हो! फ़िजूल ही में भौजी की तारीफ़ करके अपना मतलब साधना चाहते हो। लेकिन वह तो बहुत छोटी-सी बात है। ये लो, दो ठो पान तुम्हारे लिए लगाकर मैं इस बटुए को रखने ही जा रही थी। आधी रात होने आयी। अब मैं भी सोऊँगी। लेकिन इस समय हवा बहुत ज़ोर चल रही है। जान पड़ता है, मुझे भी ऊपर बरामदे में ही अपनी चारपाई डालनी पड़ेगी। ये लो पान। चलो, मैं भी उधर ही चलकर किवाड़ बन्द कर आऊँ।

यह मकान कुछ इस ढंग का बना है कि इसका भीतरी द्वार बन्द करने के लिए एक बरोठे को जाना होता है। यहाँ देहात में अधिकांश घर इसी तरह के बने होते हैं। ऊपर का दुमंज़िला कमरा इसी बरोठे को लेकर ऊपर स्थित है।

पान लेकर आगे-आगे चला हरी, पीछे-पीछे चली उसकी भौजी। आगे बढ़कर जब वह बरोठे में पहुँचा, तो देखा—दरवाज़ा बन्द है, केवल भीतर की ओर की जंज़ीर नहीं लगी हुई है। एक ओर खूंटी पर लटकती हुई लालटेन जल रही है। इसी क्षण हरी में कुछ ऐसा विपर्यय उपस्थित हो गया कि एक मदिर उत्तेजना से उसका रोम-रोम उत्तरंग हो

उठा। समस्त जगत् को, साथ ही अपने आपको भी मानो वह खोने लगा! अकस्मात् बीच में ही खड़ा रह गया। उसकी आँखों की पलकें तक जैसे नन्दा की आँखों में उलझ गयीं।

अपलक दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए उसके मुँह से निकल गया— भौजी!

नन्दा भी उस समय पल-पल में आत्म-विस्मृत होती गयी! उसके मुँह से एक शब्द तक न निकल सका।

किन्तु हरी के लिए तो एक-एक क्षण कल्प के समान दुर्लंघ्य हो रहा था। उसने कुछ कहा नहीं, आगे बढ़कर उसे अपने भुज-पाश में भर लिया।

क्षण भर निर्वाक् रहकर दोनों ने एक-दूसरे को और साथ ही अपनी-अपनी स्थितियों को समझा। नन्दा झट से छटककर अलग हट गई। अतिशय उद्वेलित होकर उसने कहा—यह तुमने क्या किया हरी?—तुमको हो क्या गया? साथ ही उसके मन में आया, वह कहे कि 'एक तरुण विधवा नारी के सन्तप्त हृदय में हलाहल भरा रहता है, इतना भी क्या तुम नहीं जानते।' किन्तु और आगे वह कुछ कह न सकी।

तब नन्दा के वाम कर-किशलय को अपने दोनों हाथों में ग्रहण कर, नतजानु होकर हरी कहने लगा—वास्तव में मैं तुम्हारे सामने अपराधी हूँ भौजी।...किन्तु...।

उसने पहले तो इस वाक्य को दृष्टि समक्ष रखकर कहा, परन्तु किन्तु के साथ वह फिर नतमुख हो गया। उधर नन्दा

भी निमेष मात्र में सजल-नयन हो गयी। प्रकम्पित अधर-पल्लव और प्राणाकुल कण्ठ से उसने कहा—किन्तु मैं तो विधवा नारी हूँ!

और इसी क्षण उसके नयनों से अश्रुमुक्ता ढुलक पड़े।

समस्त संसार सो रहा है। रजनी शान्त है; किन्तु जगत् की दृष्टि में जो अपराधी है, पापी है, वह—मानवात्मा के चरम उत्कर्ष का विधायक, मानव-सृष्टि से अखिल अस्तित्व का एक मात्र आधार, चोर किन्तु चतुर न्यायाधीश, अचेतन अनुचर, किन्तु सचेतन सम्राट—वह 'प्रेम' ही एक ऐसा खिलाड़ी है, जिसके कौतुकों का स्फुरण इस समय भी सर्वत्र निर्बाध गति से हो रहा है। संसार के पलक बन्द हैं; किन्तु उसकी आँखें अपलक दृष्टि से अपनी साधना में निरत हैं! अहो इस अमर ज्योति के स्रष्टा, तुम्हारी यह कैसी विचित्र लीला है!

तब बात की बात में हरी उठकर खड़ा हो गया। उसके मस्तक पर रेखाएँ खिंच गयीं। अतिशय उत्तप्त दृष्टि और अंगारों से खेलते हुए विद्रोही भावों में डूबकर उसने कहना चाहा कि कौन कहता है—तुम विधवा हो? कौन कहता है कि तुम्हारा विवाह हुआ था या तुमने 'पति' नाम की किसी वस्तु को प्राप्त किया था? वह तो एक खेल था; पुरुषों का नहीं, बच्चों का भी नहीं, उस अन्धे समाज का, हिन्दू-जाति की अधोगति के कंकाल का—जिसे नष्ट ही होना है, जिसका नाश ही अभीष्ट है।...किन्तु यह न कहकर मानो भीतर ही भीतर उन्मथ

होकर वह बोला—तो भी मुझे कहने दो भौजी कि जन्म-जन्मान्तर के लिए मैं तुम्हारा ही हूँ। आज ही नहीं, जब कभी भी तुम चाहोगी, मुझको अपनी आत्मा के निकट ही पाओगी। समाज, धर्म और जीवन-मरण के बन्धन भी मुझे तुमसे कभी विलग न कर पायेंगे।

इतना कहकर उसने अपनी धोती के छोर से नन्दा के आँसू पोंछ दिये।

दो आत्माओं के इस आकस्मिक मिलन में कई मिनट व्यतीत हो चुके थे। अतएव कुछ आशंकित-सी होकर नन्दा ने कहा—चलो, अब किवाड़ बन्द कर लूँ।

तब हरी तुरन्त बाहर चला आया। नन्दा किवाड़ बन्द करके लेट रही।

× × ×

सबेरा हुआ। आज चन्द्रमुखी के विवाह के समस्त कृत्य समाप्त हो जायँगे और सायंकाल उसकी विदा भी हो जायगी। किन्तु यदि कार्य पूर्ण न हो सका, तो यह भी सम्भव है कि आज रात को उसे रहना भी पड़े। तब फिर वह कल प्रातःकाल निश्चय रूप से चली जायगी।

यह रात नन्दा ने किस तरह व्यतीत की, क्या-क्या बातें उसने सोचीं, कैसी-कैसी क्रान्तियाँ उसके मन में उत्पन्न हुईं; कितनी बार ठंढी साँसें ले-लेकर वह तड़पती रह गई; फिर सारे संकल्प-विकल्पों को किसी एक विचार ने पलक मारते हुए किस

तरह मसल डाला, यह सब बतलाकर इन पृष्ठों की निरर्थक वृद्धि अभीष्ट नहीं है।

आज जब चन्द्रमुखी से एकान्त में पहली बार नन्दा की भेंट हुई, तो उसने कहा—आज तुम चली जाओगी बिटिया। वहाँ पहुँचकर अपने उनके साथ में मैं भला तुम्हें काहे को याद आऊँगी!

चन्द्रमुखी लजा गयी। उससे कुछ कहते न बना। नतमुख होकर वह अपनी ही ओर देखने लगी। तब नन्दा फिर बोली—किन्तु इसमें लजाने की कोई बात नहीं है बिटिया। यही तो चाहिये ही। जो अपना है, जिसे अपना करके तुम पाओगी, उसके दुख-सुख में, उसके मन और प्राण में, अपने आपको समर्पित करके, मिला के, इस तरह तुम्हें रहना चाहिए, जिस तरह यह देह और इसका जीवन रहता है। स्त्री का अपना है क्या?—उसका तो कलेवर मात्र है, प्रतिमा या काया। जो कुछ उसका तत्व है, वह तो उसके स्वामी के रूप में ही है। उसकी देह का वह स्वामी है और उसकी चेतना का भी। वही उसका प्राण है, जीवन है। मैं चाहती हूँ बिटिया कि तुम अपने आपको अपने स्वामी में लिप्त करके रक्खो। भारतीय नारी का यही आदर्श है।...हँसी-खुशी के साथ जाओ, उल्लास बिखेरती हुई। फिर जब कभी यहाँ आने की आवश्यकता हो, तो अपने उस उल्लास की .खुशबू को ही जैसे इधर-उधर फैलाती हुई आओ। तुम .खुद खुश रहो और उस .खुशी से यहाँ के वृन्द को .खुश करो। अब

तक तुम निरी निर्द्वन्द थीं; एकदम से स्वच्छन्द। आज से तुम पर जिम्मेदारी आती है। अब भी तुम वैसी ही निर्द्वन्द्व हो; किन्तु अपनी स्वच्छन्दता के साथ ही साथ अब तुम्हें अपने संसार को भी अपनाते हुए चलना है।···और यह बात जो अभी मैंने कह डाली कि उनके साथ मैं भला तुम्हें काहे को याद रहूँगी, यह तो एक तरह का विनोद हुआ—चुटकी, जैसे मैंने तुम्हें कभी-कभी दो अँगुलियों से गुदगुदा दिया है, वैसे ही यह बात भी है। वह देह की गुदगुदी थी, यह देह की रानी की।···अब चलती हूँ, जरा काम देखूँ। तुम झट से नहा डालो और कुछ खा लो। उनका जलपान हो चुका होगा, जनवासे में मिठाई गये हुये देर हुई, अब तुम भी चटपट खा लो। हमलोगों की प्रतीक्षा न करो। हमें तो किसी तरह काम निबटाना है। जाओ, देखो नाउन चाची आगईं, उबटन लगवाकर नहा तो डालो।

चन्द्रमुखी देर से सोच रही थी कि अब अपनी बात भौजी से कहूँ, अब कहूँ; किन्तु उसकी बात बढ़ती ही जा रही थी। अब इस क्षण में जैसे ही उसकी बात समाप्त हुई, वैसे ही वह बोली—भौजी, एक अजीब बात कई दिन से मेरे मन में आया करती है। तुम सुनोगी, तो हँसोगी। लेकिन जब तुम अपनी बात मुझसे कह ही डाती हो, तो अब मेरी भी इच्छा हुई है कि मैं भी तुमसे अपनी बात कह ही डालूँ।

"तो फिर कहो, कहो न? चुप क्यों हो??"—नन्दा ने मन्द हास से कहा।

चन्द्रमुखी बोली—तुम्हारी बातों को सुनकर मैं तो जैसे खो जाती हूँ। बार-बार मेरे जी में यही आता है कि ऐसी बातें वहाँ मुझे कौन बतलायेगा ? तो फिर ऐसा न करो कि तुम भी मेरे साथ चली चलो। तुम्हारी इन बातों को सुनकर कोई भी ऐसा न होगा, जिसकी प्रीति तुमसे न हो जाय !

अब चन्द्रमुखी के चिबुक को अपनी तर्जनी से उठाकर नन्दा ने छिटकाते हुए हास से कहा—हाँ, चलूँगी क्यों नहीं ? ज़रूर चलूँगी, लेकिन अभी ऐसी जल्दी नहीं। पहले एक बार उनको अपने में उलझा तो लो, तब फिर इस रास्ते का रस चखना। अभी से ऐसी जल्दी करोगी तो तुम्हें कुछ मज़ा न आयेगा !···इसके सिवा मैं विधवा हूँ। वे मुझसे क्या, मेरी छाया से भी दूर रहेंगे। मुझसे प्रीति करना क्या ऐसा आसान है बिटिया रानी ? अच्छा अब चलती हूँ। देर हो रही है।

शाम हुई। दिन भर में विदाई की सारी तैयारी क़रीब-क़रीब पूरी हो गयी। केवल चन्द्रमुखी की रुख़सत बाक़ी रह गयी। केदार चाची और भौजी के पास आकर कहने लगा—सारा काम किसी तरह पूरा हो ही रहा है। लेकिन देखो तो इन नगलावालों को। कोई भी झाँकने नहीं आया। इन लोगों का कितना भरोसा मैंने किया था ! माना कि छोटे सरकार की तबियत ख़राब है, तो बड़े सरकार को तो आना चाहिये था ! छिः-छिः ये लोग कितने नीच निकले !

नन्दा बोली—छोटे भैया तो ज़रूर आते लल्ला; लेकिन तबियत ही ख़राब हो गई, इसीलिए नहीं आये। चिट्ठी में भी तो लिखा था साफ़ तौर से। और यह जो सामान आया है, वह भी उन्हीं ने भेजा है। उनका कोई दोष नहीं है लल्ला। हाँ, बड़े भया की बात मैं नहीं कहती।···मैं कह ही क्या सकती हूँ!

इसी समय वहाँ वीरेन्द्र और हरी साथ ही आ खड़े हुए। वीरेन्द्र बोला—इस बरात में और तो सब ठीक रहा, जो लोग भी हैं, जैसे कुछ हैं, भले हैं। लेकिन एक आदमी की वल्दियत में कुछ फ़र्क़ जान पड़ता है। सच कहता हूँ, केदार भैया। भौजी और चाची अगर मना न कर देतीं तो कलही बिना उन्हें छकाये मैं किसी तरह नहीं मानता। यह कितना नीच आदमी है, अभी इसका पता तुम्हें अच्छी तरह से नहीं चला। मैं आज उन्हीं लोगों से मिलकर सब बातें सुन जो आया हूँ। तभी तो बिना तुम्हें बताये मेरा जी नहीं माना।

हरी बोला—जाने भी दो इन झगड़े की बातों को, काम के वक्त बेकार की बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।...हटाओजी, तुम भी क्या छोटी-छोटी बातों में पड़े हो!

वीरेन्द्र कहने लगा—ये बातें छोटी हैं तुम्हीं ऐसा कह सकते हो! मेरा तो ख़ून खौल उठता है।

केदार ने कहा—तब ज़रूर कह डालो, क्योंकि मौक़ा चूक जाने पर फिर सोचते ही रह जाओगे।

हरी बोला—बात सुनना तो साधारण बात है, लेकिन काम के वक्त बेकार बातों में पड़ना और फिर उनके तूल पकड़ने पर उनका अन्त तक चतुरता से निर्वाह करना कितना अनावश्यक और कष्टकर होता है, इसको भी एक बार सोचलो।

केदार ने कहा—हाँ, यह तो तुम ठीक कहते हो! तब इस समय फ़िज़ूल की बात मैं नहीं सुनना चाहता। रात को सुनाना, रात को।

अब हरी ने वीरेन्द्र की ओर परिहास के व्याज से देखा। देखा क्या, मानो यह प्रकट किया कि चाहे जैसी भी आवश्यक बात हो, मैं अगर विरोध करने को तत्पर हो जाऊँगा, तो वह सुनी भी न जायगी।

किन्तु वीरेन्द्र हरी के स्वभाव के इस भाग को, उसकी प्रकृति की इस चुहलबाज़ी को, प्रमोद-पूर्ण मानते हुए भी इस समय कुछ अधिक भावुकता में भर गया। उसका मुख कुछ उत्तेजित सा हो उठा।

हरी ने तुरन्त इसको लक्ष किया। तब उसे अपनी प्रकृति के इस कोण की कटुता का भी अनुभव हो उठा। वह सोचने लगा कि कर्तव्य-निष्ट व्यक्ति की यही गति है। उसे सदा अशान्ति से खेलना होता है। दुनियाँ के सारे नाते वहाँ खड़े-खड़े टुकुर-टुकुर देखते रह जाते हैं। शील और मुरव्वत के बन्धन वहाँ ध्वस्त हो पड़ते हैं। इस विचार के साथ ही उसे अपनी कल

रात की घटना का स्मरण हो आया। वह सोचने लगा—मैंने उत्तेजित होकर कहना चाहा था कि वह विवाह न था, वह तो उस अन्धे समाज का एक तमाशा था, जिसे नष्ट ही होना है, जिसका नाश ही अभीष्ट है। और आज मैं ही इस विवाह के सारे कार्य को, किसी प्रकार निर्विघ्न समाप्ति तक पहुँचा देने के स्वार्थ को लेकर, समाज की एक समस्या की ओर ध्यान देने की बात के सुनने तक का, विरोध कर रहा हूँ! यह बात क्या है? तब उसके मन में आया कि यह कुछ तो उसके स्वभाव का दोष है और कुछ पुरानी पीढ़ी के उन संस्कारों का, जो उसके भीतर घर किये हुए बैठे हैं, किन्तु बाहर से जिनके विरोध का ढिंढोरा पीटते हुए भी वह अपने ही इस दोष को पकड़ नहीं पाता।

इस विचार के प्रारम्भ और मध्य भाग को लेकर हरी कुछ गम्भीर हो गया था; किन्तु उपर्युक्त निष्कर्ष निकालते-निकालते फिर उसका मुख प्रसन्नता से झलकने लगा। तब तुरन्त उसने कहा—लेकिन केदार भाई, वीरेन्द्र की बात का जो महत्त्व इस समय है, फिर समय निकल जाने पर तो रहेगा नहीं। तब आओ चलो, बैठक में बैठकर एक बार दस-पंद्रह मिनट में उस पर विचार ही कर लें; क्योंकि हमेशा ऐसा संयोग नहीं मिलती।

केदार, हरी और वीरेन्द्र--सब-के-सब बाहरी बैठके में आकर बैठ गये। वीरेन्द्र ने हरी की ओर देखते हुए, गम्भीरता-पूर्वक कहा—तुम हो बड़ी दुष्ट प्रकृति के आदमी! अभी जब

मैंने यह बात कहनी चाही थी, तब तुमने विरोध किया था; परन्तु फिर ख़ुद ही कुछ सोचकर इस व्यर्थ की बात को खड़ा करके उसे तूल देने को तैयार हो गये। इसका मतलब तो साफ़-साफ़ यह है कि हम लोग ठहरे काठ के उल्लू। जब कभी, जो कुछ भी, तुम चाहोगे वही हम लोगों से करा लोगे और हम जब कभी कोई बात कहेंगे, तो उसे सुनना भी तुम्हारे लिए कठिन हो जायगा! यह कैसी चाल है तुम्हारी!

हरी ने मुसकराते हुए कहा—तुम्हारा कहना किसी हद तक ठीक है। किन्तु यह तुमने नहीं सोचा कि मेरी इस चाल में कोई दुर्भाव नहीं है। जिस बात का मैं विरोध करता हूँ, उसको भी सोचता ज़रूर हूँ—एकबारगी उसे छोड़ ही नहीं देता। बात समझ में आजाती है, तो अपने हठ पर स्थिर न रहकर, तुरन्त ही उसके अनुकूल होकर, उसको पूरा करने में प्रवृत्त भी हो जाता हूँ।

वीरेन्द्र कहने लगा—जो लोग निष्पक्ष विचार रखने की चिन्ता में रहते हैं, उन्हें ऐसा बनना ही पड़ता है। किन्तु तुमतो उनसे भी बहुत आगे बढ़े हुए हो। तुमतो विरोधी बात को सुनने देना भी पसन्द नहीं करते!

हरी ने अब हँसते-हँसते कहा—वह तो योंही एक चुहल की बात थी! अब उसके पीछे क्यों पड़ते हो? इसी बात को इस ढंग से क्यों नहीं सोचते कि न्यायशील आदमी भी यदि कभी

ऐसा हठी हो ही जाय, तो उसके लिए चारा क्या है। खैर, अब अपनी बात कह डालो।

अब वीरेन्द्र ने कहा—बात यह है कि इस बरात में गोकुल-चन्द नाम का एक आदमी है। सुनते हैं कि वह अपनी छोटी भावज को स्त्री के रूप में रक्खे हुए है। ऐसा तो पतित उसका जीवन है; परन्तु प्रकृति का भी वह ऐसा दुष्ट है कि कहता है—जो लोग अँगरेज़ी पढ़ते हैं और हॉस्टेल के मेस में महाराज का बनाया खाना, कहारों के हाथों से मँगवाकर, सारे कपड़े पहने हुए, कुर्सी-टेबिल पर खाते हैं, उन लोगों के साथ बैठकर हम कैसे खा सकते हैं! परसों इसी विषय पर बरात भर में बड़ा झगड़ा खड़ा हो गया था। नवयुवकों का दल एक ओर हो गया, और वृद्धों का एक ओर। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगई कि कुछ रंग में भंग होने ही वाला है। अन्त में गोकुलचन्द महाशय यहाँ खाने को नहीं आये। यहाँ से जो सामान भेजा गया था, उसी में से उन्हें अलग दिया गया, तब उन्होंने .खुद अपने आप बनाकर खाया। कल वे खाने को आये थे; क्योंकि पूड़ी-कचौड़ी उड़ानी थी। आज भी वे आवेंगे ही। बरात के सभी व्यक्ति उससे जले-भुने बैठे हैं। वे अन्तःकरण से चाहते हैं कि इन्हें कुछ प्रसाद मिल जाय तो बड़ा अच्छा हो! रिश्ते में वे वर-पक्ष के मामा होते हैं। सगे मामा नहीं, दूर के। किन्तु कोई भी हों, हम उनको अछूता कैसे छोड़ सकते हैं!

केदार ने पूछा—तुम पहचानते हो उन्हें।

वीरेन्द्र बोला—पहचानता हूँ। काला-काला भड़भूँजे का-सा उसका मुख है। मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाये रहता है!

हरी ने कहा—वह भी तो कल यहाँ द्वार पर, सहदेव मामा से पद-मार्जन करवा गया था। आज साले को समझा जाय। धुलवाने को जब पैर आगे बढ़ाये, तब सहदेव मामा उसको 'हुश्' कर दें! उसी समय हम लोग पूछ-ताँछ करने लग जाँय कि बात क्या है?—बात क्या है? तब वीरेन्द्र कहदें—साला धोबी है!—यहाँ ब्राह्मण बनकर पैर धुलवाने चला है। उस समय मैं पूछ बैठूँगा—कैसे जाना कि धोबी है? तब वीरेन्द्र भाई तुम कह देना कि हॉस्टेल में रोज़ तो हम लोगों के कपड़े साफ़ करके दे जाया करता है। क्या मैं इसे पहचानता नहीं हूँ? अन्त में जो कुछ होगा, हम लोग देख लेंगे।

केदार ने एक-एक बार दोनों की ओर देखा, फिर वीरेन्द्र से पूछा—बोलो, अपना पार्ट अदा करने के लिए तैयार हो?

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—पहले सहदेव मामा को तो राज़ी करो।

हरी बोला—इसमें क्या लगता है? चुटकी बजाते हुए मैं उन्हें राज़ी कर लूँगा।

वीरेन्द्र ने कहा—मैं तैयार हूँ।

अब केदार कहने लगा—साथ ही साथ यह भी सोच लो भाई कि इसका फल तो कुछ वैसा भयंकर न होगा! ऐसा न हो

कि फिर हम लोगों के वश के बाहर की बात हो जाय। बात बिगाड़ने में देर नहीं लगती, लेकिन बनाते हुए एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर देना होता है।

हरी कुछ आन्दोलित हो उठा। बोला—एक साधारण-सी बात से इतना डरते हो; तो फिर हम लोगों के बीच में रहते हुए वैसा उत्साह क्यों दिखलाते थे? जो लोग फूँक-फूँककर आगे पैर रखने के अभ्यासी होते हैं, इसीलिए मैं उनसे डरता रहता हूँ। ऐसे आदमी किसी दिन कोई भी बड़ा काम क्या करेंगे, एक मामूली-सी बात भी कर उठाने में जिनका कलेजा काँप उठता है!

केदार थोड़ा उन्मन होकर कहने लगा—हाँ भई, मैं ऐसा ही आदमी हूँ। मुझे क्षमा करो हरी भैया, मैं तुम जैसा साहसी कभी हो न सकूँगा। इस बात से भी मैं सहमत जरूर हूँ—निर्विघ्नता से इसे पूरा कर लोगे, तो मुझसे अधिक प्रसन्नता और किसी को न होगी। किन्तु इस षड्यन्त्र में मुझे न शामिल करो, तो यह तुम्हारी मुझ पर बहुत बड़ी कृपा होगी। मैं नहीं चाहता कि चन्द्रमुखी के विवाह के इस शुभ कार्य में कोई अप्रासंगिक उलझन या संकट उत्पन्न होने दूँ। तुम दोनों भाई जैसा चाहो, कर लो।

वीरेन्द्र बोला—तो जाने दो, मैं भी व्यर्थ में एक बखेड़ा नहीं उठाना चाहता।

देखते-देखते हरी की भृकुटियाँ तन गईं; मस्तक पर बल पड़ गये। बड़ी-बड़ी आँखों को बाहर की ओर निकालता हुआ-सा वह कहने लगा—अब तुम भी पीछे हटते हो वीरेन्द्र! जाओ, तुम भी समाज के उसी पाप-पंक के कीड़े निकले, जिसमें हम सभी अब तक कुलबुला रहे हैं! मैं सोचता था—जैसा तुम्हारा नाम है, वैसा कुछ तो तुममें होगा। पर अब मुझे मालूम हो गया कि हमारे सामाजिक संगठन के ह्रास के मूल में किस तरह के कच्चे, दुर्बल और कायर व्यक्तियों का जीवन है।

इतना कहकर झट से बैठक से अलग उठकर हरी बाहर चला आया।

वीरेन्द्र भी उठ खड़ा हुआ। वह अब मन-ही-मन अपनी बात पर पछता रहा था। वह सोच रहा था कि किस दुस्संयोग से मैंने यह चर्चा छेड़ दी कि आपस में ही ऐसा मत-विरोध उत्पन्न हो गया! फिर उसे और भी अधिक दुःख इस बात पर हुआ कि बात समाप्त होने पर आयी ही थी कि अपने आपही, प्रस्तावक होते हुए भी, वह केदार के पक्ष में ही अपनी सम्मति दे बैठा। ऐसी ही बात थी, तो उसे इस बात को उठाना ही न था। तब उसने अनुताप-दग्ध होकर केदार से कहा—भाई केदार; अब मुझसे और सहन न होगा। मैं वास्तव में हरी के ही पक्ष का व्यक्ति हूँ। चाहे जो कुछ हो, मुझे तो उसी की नीति को अपनाना होगा।

केदार ने कहा—मैं इसका बुरा नहीं मानता । बल्कि उस समय तुमने जो मेरी ओर ढुलकने की नीति स्वीकार की, मैं तो उसमें तुम्हारी आत्मीयता के इस ऊँचे स्वरूप और अपनी विचार-धारा के विरुद्ध ऐसे त्याग की भावना को देख-देखकर मन ही मन विकल-विह्वल हो रहा था। जाओ, निर्भय होकर हरी का साथ दो। समय पर मुझको अपने दायें-बायें ही पाओगे।

वीरेन्द्र तब झट से उठकर हरी के निकट आकर खड़ा हो गया।

[७]

उस रात को आकाश साफ़ था । दिन में प्रातःकाल थोड़ी शीत, दोपहर को थोड़ी गरमी और फिर रात के तीन बजे से एक दोहर या शाल ओढ़ने लायक़ जाड़ा पड़ने लगा था। आज कई दिनों के बाद एक महाशय माया के यहाँ जा रहे थे । किसी के पैरों की आहट पाकर तुरन्त उत्सुक हो उठने की तो कोई बात थी नहीं। फिर भी कौन है, कौन नहीं, इतना ही जान लेने की साधारण-सी जिज्ञासा को लेकर प्रवेश-द्वार की ओर जो माया ने देखा, तो तुरन्त उसके मुँह से निकल गया—आओ रमेश बाबू। आज बहुत दिनों में इधर आ भटके । कहो, अच्छी तरह से तो रहे।

निकट ही गद्दे पर बैठकर रमेश बोले—तबियत तो अच्छी रही, फिर भी आ इसलिये नहीं सका कि इधर आने का कोई

संयोग ही नहीं आया। रहता भी तो दूर हूँ। रोज़ तो आना होता नहीं। हफ़्ते में एक ही दिन ऐसा आता है, जब साथी लोग सैर-सपाटे के लिए तंग कर डालते हैं। तभी आना पड़ता है। या फिर कोई काम ही निकल आया, तो आना हो गया। फिर संग-साथ से बिछुड़कर अलग भागने का मौक़ा मिला, न मिला। इसीलिये कभी-कभी इसी तरह हफ़्तों गुज़र जाते हैं, मगर आ नहीं पाता।

"ठीक भी यही है रमेश बाबू। जो लोग एक सीधी रेखा के सहारे चले चलना जान गये हैं, जिन्हें इधर-उधर देखने या भटकने की ज़रूरत नहीं है, वे कितने भले हैं, कितने सुखी! किन्तु जिन्हें अपनी ज़िन्दगी में यह मालूम ही न हो सका हो कि किसी एक ही रास्ते पर चलना किस तरह का होता है, जो न अपने को ठीक तरह से समझ सकने का मौक़ा पाते हैं, न दूसरों से अपने को मिला कर देख सकने का जिन्हें अवसर मिलता है, वे लोग क्या जानें कि ज़िन्दगी चीज़ क्या है और निश्चिन्तता से कैसे वह बितायी जाती है! इसीलिए, योंही, मैंने आपसे इस तरह की बात कहदी। मुझे विश्वास है कि अब आपको मेरी बात के समझने में सहूलियत हो गई होगी।"

"आप को समझने में कभी मुझसे ग़लती होगी, इस ख़याल को आप अपने दिल से निकाल दें। मैं जब कभी आपके यहाँ आता हूँ, तब यह समझकर नहीं आता कि मैं तफ़रीह चाहता हूँ। हाँ, एक दिन था, जब तफ़रीह के लिए मैं आपके यहाँ आया

था। इसके पश्चात् जब आपकी बातों से मेरी आँखों पर पड़ा हुआ परदा हट गया, तो मैं सदा के लिए बदल गया। आजकल तो मैं पढ़ रहा हूँ। पढ़ाई ख़तम करने के बाद ज्योंही मुझे स्वतंत्र होने का अवसर मिला, त्योंही मैं आपके अलग रहने का प्रबन्ध कर दूँगा।"

"अब ऐसी ज़रूरत नहीं देख पड़ती रमेश बाबू। ज़िन्दगी के दिन ही कितने होते हैं! जो स्त्री अपनी इतनी उमर ऐसी जगह में रहकर बिता चुकी हो, उसके लिए ज़रूरत ही क्या है कि वह खुले सिर, खुले मस्तक से चलने और समाज में प्रतिष्ठा की ज़िन्दगी व्यतीत करने के मोह में पड़े! इस तरह की ज़िन्दगी में मुझ जैसी नारी को इतनी आसानी के साथ डाल देना जिन्होंने उचित और आवश्यक समझा है, उनकी किसी व्यवस्था में दख़ल देनेवाली मैं होती कौन हूँ?"

रमेश बाबू माया के इन शब्दों को सुनकर उसे एकटक देखते रह गये। इतनी व्यथा, इतना क्रन्दन और ऐसा अभिशाप सहन करने के बाद भी जो स्त्री भगवान में ऐसी दृढ़ भक्ति, ऐसी अविचल आस्था, रक्खे; उसे देवी न कहकर और कहा क्या जाय! सोचते हुए एक विचार से उत्साहित होकर उन्होंने कहा—आपने यह भी तो नहीं बतलाया कि आपके घर के लोग कहाँ रहते हैं और उनका नाम क्या है? क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि सारी बातें उन्हें साफ़ तौर से समझा दी जाँय और उन्हें आपको ग्रहण करने के लिये विवश किया जाय! मैं

समझता हूँ; समझता क्या हूँ, मेरा तो यह पक्का विश्वास है कि एक बार आपको देखकर, आपकी बातें सुनकर, दुनियाँ में ऐसा कोई भी नीच और नराधम न होगा, जो आपका विश्वास न करे।"

मुस्कराहट के व्याज में माया के होंठ ऐसे फैल गये कि उसकी अग्रिम दन्त-पंक्ति स्पष्ट झलक उठी। वह बोली—आप भी कैसी बच्चों की-सी बातें करते हैं। दुनिया को आपने जैसा भोला समझ लिया है, काश वह वैसी होती!.....जान पड़ता है, हमारे देश के गावों की ओर अभी आपकी दृष्टि तक नहीं गई है। आपको यह भी नहीं मालूम है कि गाँवों का शासन किन लोगों के इशारों पर चलता है! आपको मालूम है कि वहाँ भले आदमियों की इज्ज़त का मूल्य कितना है? आप लोग तो महज़ सुन लिया करते हैं कि हमारे गाँवों की स्थिति अच्छी नहीं है। फिर स्थिति अच्छी न होने के अर्थ क्या होते हैं, इतना भी जान लेने की फ़ुरसत किसको है! आपको मालूम है कि किसी भी आदमी को जातिच्युत कर देना, किसी भी भले घर की बहू-बेटी को जीवन भर के लिये कलंकित, तिरस्कृत और दुराचारिणी बनाकर या सिद्ध करके उसकी सारी जिन्दगी को हमेशा के लिए ग़ारत कर डालना, किसी भी पुरुष, स्त्री, बालक या वृद्ध को सदा के लिए ग़ायब या समाप्त कर देना हमारे गाँवों में आज भी एक साधारण बात है? कैसा कपट-जाल, कैसा फ़रेब, कितनी अधिक बेईमानी, कितना ज्यादा, किस हद तक

मिथ्याडम्बर हमारे ज़र्रे-ज़र्रे में समाया हुआ है; आपने कभी सोचा है ? ज्यादा दूर जाने की ज़रूरत ही क्या है !—गाँव के किसी भी किसान के घर में दस दिन के लिए ठहर जाइये। आप कुछ कीजिये नहीं; केवल सावधानी के साथ सब लोगों की बातें सुनते रहिये। इतने ही दिनों में आपको इस बात का अनुभव होने लगेगा कि और अधिक दिन रहने के लिए यह निहायत ज़रूरी है कि गाँव की राजनीति के किसी-न-किसी दल में आप शामिल हो ही जायँ। अगर आप पैसेवाले हैं; तो बिना कुछ पैसा लुटाये आपकी गति नहीं है; और अगर आप ज्यादा पढ़े-लिखे हैं और गाँव के महामहिम कर्णधारों के विचारों से आपके विचार नहीं मिलते हैं, तो भी यह आपकी एक अयोग्यता है। हाँ, यदि आप में संगठन का माद्दा है और नाना प्रकार के फ़रेब और जाल रचकर आप उनको अपनी मुट्ठी में कर सकते हैं, तो आप किसी हद तक सफल हो सकते हैं। लेकिन सवाल यह है कि सैकड़े-पीछे कितने आदमी ऐसे हैं; जिनमें अन्य मानवोचित गुणों के साथ इस तरह की योग्यता होती है ?

रमेश बाबू बोले—आप तो ऐसी बातें करती हैं, जैसे आपकी सारी ज़िन्दगी ही गाँवों में व्यतीत हुई हो। यदि यह बात किसी हद तक सही भी हो, तो यह कितने ताज्जुब की बात है कि गाँव की रहनेवाली होने पर भी आप में कितने अधिक गुण, कैसी-कैसी विशेषताएँ हैं।

"इसका कारण मेरा ग्रामीण होना नहीं, नागरिक होना है।

गाँवों में रहनेवाली स्त्रियों में बाहरी पुरुषों से वार्तालाप करने तक का न तो साहस होता है, न उनकी ऐसी योग्यता होती है। यह गुण तो हम नगर में पाते हैं। किन्तु आप जो मुझमें निरे गुण ही गुण देखते हैं, यह भी असल में आपही का गुण है। मुझमें क्या है ? जो कुछ है, वह तो आपके दृष्टिकोण में है।" कहते हुए माया के मुख पर फिर मन्द हास झलकने लगा।

कुछ मौन रहकर रमेश बाबू ने कहा—आजकल खर्चे की आपको तकलीफ़ होगी, यह सोचकर कुछ रुपये मैं लेता आया हूँ। ये लो।

दस-दस के दो नोट उसने पर्स में से निकालकर माया के सामने रख दिये। नोट देखते ही माया की वह प्रफुल्लित मुद्रा पलक मारते ही विवर्ण हो गई। एक शीतल निःश्वास छोड़ते हुए उसने कहा—किन्तु अभी तो रुपये की कोई वैसी ज्यादा ज़रूरत थी नहीं। अभी तो पिछले रुपयों में भी कुछ रुपये पड़े होंगे। इसलिए, मेरी समझ से, आप इन्हें लेते जाइये।

"नहीं देवीजी, जब कभी, जो कुछ भी, सेवा मैं आपकी कर सकूँ, उसे आप अस्वीकार न करें, यही मेरे लिए आपकी बड़ी कृपा होगी।...अब मैं चलता हूँ। अगले महीने में मुझे कुछ दिनों के लिए घर जाना पड़ेगा, क्योंकि छुट्टियों में कालेज बन्द रहेगा। तब घर जाने से पहले एक बार मैं फिर आपसे मिल जाऊँगा।"—रमेश बाबू कहकर उठने लगे।

नोट उठाते हुए उसी निमेष में माया ने उल्लसित भावना से कहा—किन्तु आज आप ज़रा देर भी नहीं बैठे। बहुत दिनों से आपका वायोलिन भी मैंने नहीं सुना। बहुत जल्दी हो, तब तो लाचारी है, नहीं तो ज़रा देर और बैठिये।

जो रमेश बाबू अभी क्षण भर पूर्व अत्यधिक गम्भीर हो गये थे, वही माया के इस कथन से बात-की-बात में पुलकित हो उठे। बोले—वायोलिन! अच्छा, तो लाओ ज़रा देर···।

इधर माया ने नौकरानी से कहकर वायोलिन मँगाया, उधर वह सोचने लगी—ये रूप-लावण्य के लोभी युवक, ये स्वप्नों के हिंडोलों में झूलनेवाले तरुण! वासना के क्षेत्र में इनकी आकांक्षाएँ कैसी बाधा-हीन हो रही हैं! बेचारे जानते नहीं कि ज़माने की गर्दिश का एक ही झोंका खा जाने पर लक्ष्मी के ये चोचले कितनी जल्दी हवा हो जायँगे। परन्तु इन्हीं युवकों में ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिन्हें सम्हालनेवाला कोई मिल भर जाय, फिर तो समाज और देश के लिए अपना सर्व्वस्व न्योछावर करने में इन्हें देर न लगे। एक दिन वासना-शांति के लिए आ गये थे, लेकिन फँस गये उल्टे—करने लगे प्रेम। उसी के मोह में ऐसे पड़े हैं कि न अलग हो सकते हैं--न संलग्न रह सकते हैं। यहाँ उन्हें ग्रहण करने के लिए रक्खा क्या है?···इधर मैं हर महीने में सोचती हूँ, इस मकान को छोड़कर किसी दूसरे मुहल्ले में जा बसूँ और कोई काम करने लगूँ। और न सही, सिलाई-बुनाई भी कर लूँ, तो खाने-कपड़े के लिए कमी नहीं हो सकती। फिर भी इधर-

उधर से मिलकर इतने रुपये आ ही जाते हैं कि दिक्कत नहीं होती।···मैं क्या जानती नहीं हूँ कि यह रुपया जो मैं इन लोगों से लेती हूँ, मिथ्या है। किसी की आशाओं को व्यर्थ में उलझा रखना भी उसके साथ एक प्रवञ्चना ही है। लेकिन मैं करूँ तो क्या करूँ? मैं जब उनसे साफ़-साफ़ कह देती हूँ कि मैं ख़ाली नहीं हूँ, आप किसी भ्रम में न पड़ें। तब भी तो ये लोग मुझे नहीं छोड़ते। न आना-जाना बन्द करते हैं, न रुपये का बढ़ा हुआ हाथ ही खींचते हैं। और मैं भी क्या करूँ? जब मैं किसी की हो नहीं सकती, किसी को अपने भीतर बैठा नहीं सकती, तब मैं और किस तरह पेश आऊँ? आता हुआ रुपया भी मुझसे छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि खाना-पहनना तो पड़ता ही है और अशोक के लिए भी रुपया भेजना ही होता है।···हाय मेरा अशोक!

अशोक माया का एक पुत्र है। कुछ वर्षों से वह गुरुकुल में पढ़ता है। माया उसे हर महीने पंद्रह रुपये भेजती है।

इसी अशोक की याद में माया के नेत्र भर आये! किन्तु झट से उसने अञ्चल से उन्हें ग्रहण कर लिया। ओह! यह कैसी माया है! किसी को अपने साथ उलझाती नहीं, सबसे कहती रहती है कि मैं ख़ाली नहीं हूँ। इतने पर भी जो लोग उसके यहाँ आना जारी ही रखते हैं; उनको दुतकार कर अलग नहीं करती। उनसे शिष्टतापूर्ण बात-चीत करती, उनका दुःख-सुख पूछती, उन्हें मन्त्रणा देती और कभी गाना सुनाकर, कभी साथ में ताश या कैरम खेलकर उनका मनोरंजन करती है।

रमेश बाबू ने वायोलिन बजाना प्रारम्भ कर दिया था। माया गाने लगी। माया का लोभन कल कंठ वायोलिन के मृदुल स्वरों के साथ मिलकर और भी मधुर—और भी मादक—हो उठा। गाना समाप्त होते-होते रमेश एक अकल्पित आनन्द से ऐसे ओत-प्रोत हो गये कि अपने आपको भूल-सा गये। वायोलिन आगे रखकर वे कहने लगे—ओह! आप तो गन्धर्व-कुमारी जान पड़ती हैं।

माया प्रकृत प्रमोद में बोली—धन्यवाद।

साथ ही पनडब्बा उठाकर उसने रमेश के आगे रख दिया।

रमेश उसमें से पान लेकर, घड़ी देखते हुए, बोले—अब चलूँगा।

माया ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। रमेश भी नमस्कार कहते हुए नीचे उतर आये।

अभी रमेश को गये हुए देर नहीं हुई थी कि एक और सेठ साहब आ पहुँचे।

माया ने बैठने का संकेत किया। जब वे बिराज गये, तो माया कुछ गम्भीर होकर बोली—और कहिये, बाल-बच्चे तो सब अच्छी तरह से हैं न?

सेठ जी खींसे निपोरते और दोनों हाथ जोड़ते हुए बोले—जी, खूब अच्छी तरह से, आप लोगों की किरपा से।

"और सेठानी जी का क्या हाल-चाल है?"—माया ने पूछा।

"जी, वो भी ख़ूब भली-चंगी है। ईश्वर की किरपा से, आपके आशीरवाद से।"—सेठ जी ने कहा।

माया बोली—और कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

सेठ जी ने कहा—बस, मुझे और क्या चाहिये, वही पद सुना दीजिये।

माया अतिशय प्रसन्न होकर बोली—अच्छा।

तत्काल उसने नौकरानी भेजकर पड़ोस से ही साज़िन्दों को बुला लिया।

थोड़ी देर में जब वाद्य-यन्त्रों का स्वर-सादृश्य स्थिर हो गया, तो उसने गाना प्रारम्भ कर दिया—वह सूरदास का प्रसिद्ध पद है, पापों से मुक्ति प्राप्त करने की भावना का ऐसा जाग्रत पद और दूसरी जगह नहीं मिलता।

हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।*

---

*हमारे प्रभु अवगुण चित न धरो।
समदरशी प्रभु नाम तिहारो ऐसेहिं पार करो।
एक लोहा पूजा में राख्यो, दूजे घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो॥
एक नदिया दूजे नार कहावे, मैलो नीर भरो।
जाइ मिल्यो तब एक बरन भयो गंगा नाम परो॥
एक माया दूजे ब्रह्म कहावे, सूर श्याम झगरो।
अबकी बेर मोहि पार उतारो, नहिं प्रण जात टरो॥
प० सा० ८

धीरे-धीरे इस पद की आन्तरिक भावना में माया पूर्ण तन्मय हो गयी। पहले कण्ठ में निरोध उत्पन्न हुआ, फिर स्वर मध्यम होकर गहनतम होने लगा। नासिका-दल तथा ओष्ठद्वय कम्पित हुए, नेत्रों में एक प्रकार के समर्पण की कांक्षा विलोड़ित हो उठी। अमृत-बूँद झरने लगे।

माया सिसकी लेती हुई रोती और फिर मर्यादित होकर पद के साथ चल देती।

इस बार उसने आँसू पोंछे नहीं। अधिकतर उसकी साड़ी पर ही गिरते रहे। किन्तु जो ढुलक न सके, वे क्षीण और क्षीणतर होते हुए सूख गये।

पद पूरा करके माया ने संकेत से साज़िन्दों को विदा कर दिया। अब उसने सेठ जी की ओर देखा। देखा—आँसू तो उन्होंने पोंछ लिये हैं; किन्तु नेत्रों में लाली अब भी अवशिष्ट है।

सेठ जी बोले—ओह! आपके इस भजन ने मेरी तो जैसे आँखें खोल दीं। कितनी बार आप से सुन चुका हूँ; किन्तु सदा वही बात है, वैसा ही अमरत्व को देनेवाला अमृत। अब किसी दिन वह दूसरा भजन भी आकर सुनूँगा—मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई। आज आपको बड़ी तकलीफ़ हुई। आप रोती रहीं। कहने को आप वेश्या हैं; तो भी कितनी पवित्र हैं! जैसे देवी हों। मैं किस लायक़ हूँ, जो आपकी कुछ भेंट करूँ, तो भी ये दस रुपये आप स्वीकार करें। बस! अब मैं भी आज्ञा चाहता हूँ।

सेठ जी भी चल दिये।

माया विस्मित-सी, विमूढ़-सी, होकर दस रुपये के उस नोट को उठाकर थोड़ी देर तक उसे देखती रह गयी। अपना ही गाया हुआ यह चरण देर तक उसके कर्ण-रन्ध्रों में गूँजता रहा। अब की बेर मोंहि पार उतारो, नहिं प्रण जात टरो।"

ग्यारह बज रहा था। थोड़ी देर में माया लेट रही।

× × ×

रात के नौ बजने का समय था। दिन भर हवा खूब तेज़ी के साथ चलती रही थी। उस समय यद्यपि हवा में उतनी तेज़ी न रह गयी थी, किन्तु ठण्ढ और दिनों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। धर्मशाले के चबूतरे पर कथरी-गुदड़ी बिछाकर रामदास और सूरदास लेटे-लेटे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे। चमेली दीवाल से सहारे उढ़की हुई चने चबा रही थी। कभी-कभी बीच-बीच में बोल भी उठती थी। रामदास कह रहा था कि ब्याह तो मेरा लग रहा था, लेकिन मैंने ही ब्याह करने से इनकार कर दिया था। आज सोचता हूँ कि अगर ब्याह हो गया होता, तो एक झंझट ही थी।

सूरदास कुछ अन्यमनस्क-से बैठे हैं। रामदास जो कुछ कहते जाते हैं, कभी-कभी उसका थोड़ा-सा अंश ग्रहण कर लेते हैं और उत्तर में 'हाँ हूँ' कह देते हैं। बात यह है कि रामदास की बातचीत के बीच में कोई-न-कोई बात ऐसी भी निकल आती है, जो सूरदास के अन्तस्तल तक अनायास जा पहुँचती

है। तब वहाँ उस बात को रखकर, जब वे उसी तरह की, उससे मिलती-जुलती, बातों के जाल में ऐसे फँस जाते हैं कि जल्दी मुक्त नहीं हो पाते। इस समय रामदास ने यह जो ब्याह की चर्चा छेड़ दी, इस बात से भी वे अपने सम्बन्ध में दूर, बहुत दूर तक सोचने लगे।

रामदास जब देखता है कि सूरदास कुछ गुम-सुम से हैं, हाँ या ना कुछ कह ही नहीं रहे हैं; तब वह झट समझ लेता है कि मेरी बात वे सुन नहीं रहे हैं। इस समय भी उसने ऐसा ही मान लिया। उसने निश्चय कर लिया कि सूरदास मेरी बात नहीं सुन रहे हैं। तभी उनको सजग न करके वह भी उस समय चुप हो रहा।

चमेली चने चाब चुकी थी। जैसे ही पानी पीने के लिए उठी, वैसे ही रबड़ी-मलाईवाला फेरी करता हुआ उधर आ निकला। उसके थाल में दोनों ओर अलग-अलग दोनों चीज़ें लगी हुई थीं। थाल में फ़िट की हुई मिट्टी के तेल की, टीन की बनी ढिबरी ख़ूब धुआँ उड़ाती हुई जल रही थी। रबड़ी वाले ने आवाज़ लगाई—मलाई रुपया सेर, रबड़ी आठ आने सेर।

चमेली ने पानी तो पी लिया, पर उसका ध्यान रबड़ीवाले के स्वर के साथ सन्नद्ध ही बना रहा। पानी पीकर, लोटे को सिरहाने रखकर, चमेली ने रामदास से कहा—रामदास भैया, ओ रामदास भैया! बोलो, अब क्या कहते हो?

रामदास बोला—कहूँगा क्या ? खिलाती हो तो खिलाओ; नहीं जाने दो।

सूरदास सोच रहे थे कि और कितने दिन तक मैं इस तरह की जिन्दगी काटता रहूँ ! एक दिन सोचा था—ये भूखे-टूटे, ये अनाथ और अपाहिज, दरिद्र और दुखी, ये निराश और निराश्रित ही ज्यादा सुखी हैं—निश्चिन्त हैं। तब जान-बूझकर इस तरह के जीवन में कूद पड़ा था। हालांकि आँखें नहीं रही थीं, शरीर में पहले जैसा पौरुष भी नहीं रह गया था, तो भी मुझे भरोसा था कि मैं अगर अपने घर जा पहुँचूँ तो भाई-भतीजों के साथ मिलकर दरवाज़े पर बैठे-बैठे निश्चिन्तता से ज़िन्दगी बिता सकूँगा। लेकिन इस तरह के जीवन में, इतनी दूर तक चले आने के बाद, अब उधर लौट जाने में जो की पुरानी कसक फिर उमड़ आती है। ओह ! मैंने अपना यह जीवन किस तरह से थोड़ा-थोड़ा करके, धीरे-धीरे, सुलगा-सुलगाकर राख में मिला दिया। पिपासा नाम की किसी भावना को उठने नहीं दिया। एकदम से उसे दबाता ही रहा। फिर भी आज तक मुझे अपने जीवन से तृप्ति नहीं हुई ! आज भी यही जान पड़ता है, मानो यह भी व्यर्थ हुआ, यह भी मिथ्या ही है। जहाँ से चले थे, घूम-फिरकर वहीं तो आ पहुँचे हैं ! तिलभर भी तो आगे नहीं जा सके। हमारी अपेक्षा माया हज़ार दरजे अच्छी है। मानो उसने एक तरह से जीवन खोकर ही जीवन को पाया हो ! मनुष्य मात्र के लिए उसके हृदय में स्थान है, प्रीति है।

ऐसा जान पड़ता है, मानो घृणा नाम की किसी स्थिति से उसका कभी परिचय ही नहीं हुआ। जो स्त्री फूलों की शय्या पर शयन करती हो, जिसके वस्त्रों से सुगन्ध की लहरें उठती हों; सुन्दर, मधुर, सलोना, कोमल और मनोहर हृदय जिसने पाया हो, वह मुझ जैसे क्षुधित, दीन-हीन-मलीन व्यक्ति से भी, जिसमें रूप, यौवन, सौन्दर्य्य और लक्ष्मी—इनमें से कुछ भी न हो; जिसके चिथड़े होरहे वस्त्रों से मैल, तेल और पसीने की बदबू आती हो, श्रद्धा-भक्ति रखकर उसी के अनुसार आदर और सम्मान का व्यवहार करे और साथ ही मुझ पापी तक से ज्ञान की दीक्षा लेने को उद्यत हो, वह नारी है कि देवी! उस दिन रामदास से बातचीत करते-करते घमण्ड में आकर मैंने उसके लिए कैसे-कैसे कटु वचनों का प्रयोग किया था! मैं उस समय कैसा विक्षिप्त हो गया था!

..."हाय री पिपासा। इस दशा को प्राप्त हो जाने पर भी जीवन में रस लाने की, रस से एक बार उसे ओत-प्रोत कर देने की प्यास!!

"नहीं सूरदास, अब इस जीवन को तुम इसी तरह व्यतीत कर दो। तुम साधक हो, तपस्वी हो। तुमने उस दिन के बाद जीवन भर अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का पालन करके अपने आपको भगवान के चरणों के निकट पहुँचाया है। छिः तुम यह सब क्या सोचते हो!

चमेली चने चबाकर रह गई। यद्यपि उसने माँग-मूँगकर आज छै पैसे पा लिये थे; फिर भी उसने रोटी नहीं बनाई।

रोटी बनाने बैठती, तो रबड़ी के लिए वह पैसे न बचा पाती। आज उसने तै कर लिया था कि अगर पैसे मिल जायँगे तो रामदास को रबड़ी खिलाये बिना वह मानेगी नहीं।

बात यह थी कि उस दिन चमेली ने लगती बात कह दी थी। रामदास दो पैसे की रबड़ी ले तो आया; पर फिर उसने खाई नहीं, सब-की-सब चमेली को दे दी थी। उस समय चमेली दही-बड़ा लेने आयी थी। रामदास ने सोच लिया था कि एक कपड़े में बाँधकर गले से लटकाकर वह रबड़ी ले जायगा। लेकिन जब चमेली साथ हो ली, तो फिर वही उसकी रबड़ी और दही-बड़ा दोनों चीज़ें लेती आई थी।

उस दिन जब दोनों अपनी-अपनी चीज़ खाने बैठे, तो रामदास ने पूछा—चमेली, रबड़ी न चखोगी क्या!

चमेली ने अपना दही-बड़ा खाना शुरू कर दिया था। व्यंजोक्ति में मुसकराकर उसने जवाब दिया—चखूँगी क्यों नहीं?

रामदास बोला—तो लो इसे। थोड़ा-सा दही-बड़ा मुझे दे दो।

चमेली बोली—अब तो जूठा हो गया।

यह कहकर वह लज्जित हो उठी।

किन्तु रामदास बोला—पागल हुई हो! अभी तक पाखण्ड नहीं छूटा। लाओ, दो, लजाओ नहीं।

चमेली ने अवशिष्ट दही-बड़ा रामदास को दे दिया।

अब रामदास ने अपनी रबड़ी में से एक अँगुली पर जितनी आ सकी, उतनी उठाकर बाक़ी सब चमेली को दे दी। दोनों ने प्रेम के साथ अपनी-अपनी सूखी रोटियाँ खायीं; लोटा भर पानी पिया और तृप्ति की डकार ली। उसी दिन से चमेली बराबर अवसर ढूँढ़ रही थी कि कब वह पैसे बचाये और कब रामदास को रबड़ी खिलाये।

इस समय चमेली के हाथ ऐसा ही अवसर आगया। चार पैसे की रबड़ी दो जगह उसने ली। एक हिस्सा तो उसने रामदास को दे दिया। अब दूसरा रह गया। उसे हाथ में लेकर उसने कहा—लो सूरदास भैया, आज तुम भी रबड़ी चख लो।

सूरदास जिस समय ऊपर की बातों में उलझे हुए थे, उसी समय चमेली का उपर्युक्त वाक्य उनके कानों पर जाकर स्थिर हो गया।

सूरदास पहले तो कुछ अचकचा गये; किन्तु फिर बोले—तुम्हीं खाओ बहिन, मुझे कुछ भी खाने की इच्छा नहीं है।

चमेली सूरदास के स्वभाव से परिचित है। एक बार इनकार करने के बाद फिर किसी बात का स्वीकार करना उनके लिए असम्भव होता है। इसलिए चमेली ने फिर इसके लिए दुबारा कुछ कहना-सुनना उचित नहीं समझा।

सूरदास ने तब पूछ दिया—और रामदास को तुमने नहीं पूछा बहिन ?

चमेली मुस्कराती हुई कहने लगी—बात यह है भैया, कि ये बड़े हज़रत हैं ! मुझसे तो माँग-माँगकर खाते हैं, पर अपनी कोई चीज़ कभी खिलाना तो दूर रहा, झूठ-मूठ भी नहीं पूछते।

रामदास रबड़ी चख रहा था। चमेली की बात सुनकर भीतर और बाहर से मिलकर ऐसा हँसने लगा कि बड़ी कठिनाई से अपने आपको प्रकृतिस्थ कर सका। कौर को कण्ठ के भीतर शीघ्र ग्रहण करने के क्षण में, नासिका के वायु-ग्रहण के व्यापार में, अचानक जो अप्राकृतिक अवरोध उत्पन्न हो उठता है, उसी प्रकार का एक अप्रीतिकर प्रसंग आते-आते रुक गया। और रुक इस तरह गया कि झट से सिरहाने रक्खे हुए लोटे को उठाकर उसने कई घूँट पानी पी लिया। पानी पीकर जब वह कुछ स्थिर हुआ, तो चमेली की बात का जवाब दिये बिना उसको कल न पड़ी। उसने कहा—लेकिन असली बात चमेली ने अब भी आपको नहीं बताई। जो लोग माँग-माँगकर खाने के सुख को एक बार जान लेते हैं, बिना माँगे हुए किसी चीज़ के खाने में उन्हें क्या मिलता है और क्या नहीं मिलता, इस बात को वे लोग कैसे समझ सकते हैं, जिन्होंने दूसरों को आदर के साथ खिलाने के सुख को ही अपना सब कुछ समझ रक्खा है ?

"ठीक कहते हो रामदास"—सूरदास ने तुरन्त कह दिया।

चमेली खिलखिलाकर हँसने लगी।

रामदास ने अब शान्त-गम्भीर स्वर में कहा—चमेली ने पहले मुझे ही रबड़ी दे दी थी। जो बच रही थी, वही आपको चखाने के लिए वह कह रही थी।

रामदास की इस बात को सुनकर सूरदास चरम मर्माहत हो उठे। बोले—आखिर कार ये नारी-रत्न हैं भाई रामदास! हमलोग जीवन की थोड़ी-सी तपस्या, थोड़ी-सी साधना और थोड़े-से त्याग के बल पर कितना अभिमान अपने भीतर भर लेते हैं! परन्तु नारी अपने सहज स्नेह, साधारण शिष्टाचार और मामूली-सी बात से कितना और क्या-क्या दे डालती है, इसको हमलोग कभी जान नहीं पाते, कभी सोच नहीं पाते। और यदि कभी कुछ जान भी पाते हैं, तो उसीमें वासना, उसी में पाप, खोजने लगते हैं। यह हमारा कितना पतन, किस हद तक गिरी हुई हमारी दूषित मति-गति है!

रामदास बोला—भाई सूरदास, तुमतो कभी-कभी ज्ञान की ऐसी ऊँची-ऊँची बातें करने लगते हो कि मुझे जान पड़ने लगता है, मानो कोई पहुँचे हुए महात्मा हो। हम लोगों के साथ जो सूरदास रहते हैं, वे कोई और हैं, तुम वह नहीं हो। उस वक्त तुम मानों हम लोगों की हद से बाहर होकर कुछ अलग से जा खड़े होते हो।...इसके सिवा एक बात और है। एक-दो बार नहीं, अनेक बार मैंने समझ पाया है कि तुम किसी बड़े अच्छे घर में पैदा हुए थे। पढ़ा-लिखा भी तुमने खूब था। मालूम नहीं, किस भूल या कर्म-दोष से तुम्हारी आँखें जाती

रहीं और तुममें ऐसी विरक्ति आगयी। जो कुछ भी हो। मैंने बड़े-बड़े सन्तों और महात्माओं का साथ किया है। बड़े-बड़े भजन और उपदेश सुने हैं। किन्तु जब-जब उन उपदेशकों और सन्तों की संगति में अपने को डालकर उनको नज़दीक से देखा है, तब-तब, मुझे अन्त में निराश ही होना पड़ा है—पछतावा ही आख़िर में मेरे हाथ लगा है। मैंने कभी मुँह पर तुम्हारी प्रशंसा नहीं की। आज जब जी नहीं माना, तब बहुत दिनों की सम्हालकर रक्खी हुई भीतरी बात ज़बान पर आ ही गई।

सूरदास बोले—"उन्होंने ही यह सब दिया है भाई, जिन्होंने और सभी कुछ छीन लिया है।" और उनकी आँखें भर आयीं। अन्तिम शब्द तक पहुँचते-पहुँचते उनका अटकता हुआ कण्ठ अत्यन्त क्षीण हो गया!

[८]

श्रीवर, सहवर तथा उनके गुरुजनों को लेकर आधे से अधिक व्यक्ति द्वार पर ही अपने-अपने पद-पद्मों का मार्जन कराके मकान के भीतर पहुँच चुके थे। कुछ थोड़े से व्यक्ति ही ऐसे शेष थे, जो अन्दर जा रहे थे, या जाने के मार्ग पर थे। इन्हीं में एक महाशय पंडित गोकुलचन्द भी थे। कपड़े उतारकर वे पाद-प्रक्षालन के लिए ज्योंही आगे बढ़े, त्योंही वीरेन्द्र ने देखा—वही हैं, वही। फिर क्या था? उन्होंने झट से सहदेव मामा को संकेत कर दिया।

सहदेव मामा तपाक से उठ खड़े हुए। बोले—अच्छा, आप हैं! बड़े अच्छे हैं आप! आपका मुँह भी बड़ा सुन्दर है! वीरेन्द्र बेटा, देखो तो ज़रा इनको ठीक से, लालटेन उठा लो। वैसे है तो चाँदनी रात, लेकिन शायद हमी को भ्रम हो रहा हो। इसीसे।

वीरेन्द्र ने लालटेन उठा ली। मुँह के निकट ले जाकर देखा। कई मिनट तक खूब ध्यान से देखने के बाद कह दिया—यह तो जात का धोबी है काका। यहाँ पर त्रिपुण्ड लगा के आया है।...सच, काका।

सहदेव-मामा रिश्ते में वीरेन्द्र के काका ही होते थे।

बात-की-बात में चारों ओर खलबली मच गयी। हरी पास खड़ा ही था। बोला—लेकिन बिना प्रमाण के मैं यह बात नहीं मान सकता।

वीरेन्द्र ने कहा—रोज़ तो यह हम लोगों के कपड़े दे जाया करता था। जान पड़ता है, यह भी इधर ही कहीं पास का रहने वाला है; यहाँ आकर ब्राह्मण बन गया है। देखो तो शरम भी नहीं आती इसको!

लोग हक्के-बक्के-से रह गये। जो समझदार थे, उनमें से एक बोले—लड़कपन मत दिखाओ। ऐसा भद्दा मज़ाक़ अच्छा नहीं होता। छिः छिः! कोई इस तरह की बात भी करता है!—ऐसा भी कोई दोष लगाता है! आप लोग पढ़े-लिखे होकर ऐसी बातें करते हैं, यह आपके लिए शर्म की बात है!

इस हो-हल्ले में जो लोग भीतर भी जा पहुँचे थे, वे भी बाहर आ गये। एक वृद्ध महाशय तो सुनकर आग-बबूला हो गये। बोले—ऐसे दुष्ट लोगों के घर यह सम्बन्ध हुआ है कि जो कुछ न हो, थोड़ा है।

केदार ने उत्तेजित होकर उत्तर दिया—जबान सम्हालकर बात कीजिये। बेजा बात कीजियेगा, तो ठीक न होगा।

अब तो केदार का यह कहना घृताहुति बन गया। किसी ने उस बुड्ढे की ओर संकेत करके कहा—यह भी उसी जात का है! कोई बोला—इसको भी पकड़ लो, जाने न पाये।

अब स्थिति भयंकर हो उठी। केदार जिस बात से डरता था, वही बात सामने आ गयी। इतने में बरातियों के मुख्याधिकारी, जो श्रीवर के फूफा साहब थे, बाहर आ विराजे। सारी बातें सुनकर सहदेव मामा को और साथ ही वीरेन्द्र आदि को दोष लगाकर वे कहने लगे—यह बहुत बुरी बात है। जो लोग आपके यहाँ पधारे हैं, आप लोगों को तो उन सबका सम्मान ही करना चाहिए। गाली देना या अपशब्द कह बैठना आप लोगों के लिए लज्जा की बात है। ऐसी नीचता का व्यवहार करना कहाँ की सभ्यता है! आप लोगों ने क्या अँगरेजी पढ़कर यही सीखा है! ऐसे व्यवहार के लिए आपको शर्म आनी चाहिये!

पंडित गोकुलचन्द चुपचाप खड़े के खड़े ही रह गये। वे कुछ ऐसे आतंकित हो उठे कि एक भी शब्द उनकी जबान से निकल न सका। खैरियत इतनी ही थी कि अभी तक उनका

पक्ष प्रबल ही होता देख पड़ता था। इसी समय फूफा जी की ओर उद्यत होकर हरी ने उत्तर देते हुए कहा—"ये महाशय कितनी नीच प्रकृति के हैं, इसकी सारी कथा आप लोगों को मालूम है! अभी दो दिन पहले इन्होंने आप लोगों में कितना विरोध उत्पन्न कर दिया था, यह भी मैं जान चुका हूँ। यह आदमी इतना चरित्रहीन, लम्पट और गिरा हुआ है कि ऐसे आदमी का मुँह देखना भी शास्त्र में वर्जित है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो साफ़ तौर से यहाँ तक कहा है—अनुज बधू, भगिनी, सुत-नारी। सुनु सठ ये कन्या समय चारी। इन्हैं कुदृष्टि बिलोकै जोई—ताहि बधे कछु पाप न होई। मैं समझता हूँ; इतना ही कहना काफ़ी है। इसको और अधिक साफ़ करके बतलाने की ज़रूरत नहीं है। ऐसे आदमी को तो हम लोगों के समाज में शामिल होने और आप लोगों को अपने साथ शामिल करने की क़तई ज़रूरत न थी। ख़ैर, जब यह शामिल हुआ ही था, तो इसको सिर नवाकर चलना चाहिये था। पर यह तो आप लोगों में मिलकर और भी ऐंठ गया। उस दिन इसने कहा कि जो लोग अँगरेज़ी पढ़ते और होस्टलों में रहकर मेस में भोजन करते हैं, वे जब इस तरह से जाति-च्युत हो चुके हैं, तब ऐसे लोगों के साथ बैठकर हम खाना कैसे खा सकते हैं! हम जानना चाहते हैं कि ऐसे पतित आदमी को सामाजिक व्यवस्था देने अथवा उसकी बात उठाने का अधिकार किसने दिया है? फिर अनधिकारी होते हुए भी इसने इस तरह की बात उठाई ही क्यों?

दूसरी बात हम यह कहना चाहते हैं कि पुराने जमाने में विद्यार्थीवृन्द जब ऋषियों के आश्रमों में पढ़ने जाता था, तब उसको मधुकरी वृत्ति ग्रहण करनी होती थी। अब वैसा समय नहीं रहा। परन्तु किसी-न-किसी प्रकार की विशेष शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब हम लोग बाहर जाते हैं और सम्मिलित रूप से भोजन की व्यवस्था करके ब्राह्मण का ही पकाया हुआ भोजन पाते हैं, तब क्या पाप करते हैं और कैसे जाति-च्युत होते हैं! किसी में दम हो, तो शास्त्र का, वेद का, प्रमाण देकर बतलाये कि विद्यार्थी-जीवन में दूसरे के हाथ का भोजन ग्रहण करने में जाति चली जाती है। लेकिन जिन लोगों ने कभी शास्त्र की शकल नहीं देखी, सामाजिक व्यवस्था के साहित्य और वेदों के अध्ययन के नाम पर जो शून्य हैं, वे भी जब सामाजिक व्यवस्था जैसे महत्तम काम में अपने आप पड़कर खुद ही अधिकारी बन जाने की कामना रखते और उस नवयुवक-समाज पर अपना आतंक जमाना चाहते हैं, जो देश के अभ्युदय में अपने जीवन तक की आहुति देने को सदा तत्पर रहता है, तब हम लोग उनका यह स्वेच्छाचार, उनकी यह अनधिकार-चेष्टा, कैसे सहन कर सकते हैं! जबसे हमने यह बात सुनी थी, तब से हम उसका जवाब देने का अवसर ढूँढ़ रहे थे। हम स्वीकार करते हैं कि इस समय इस अप्रासंगिक अशिष्टता के हम अपराधी हैं। किन्तु हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि इस तरह के पाखंडी आदमियों के आगे झुकना हम

पाप समझते हैं और इसलिए उनके सामने हम सदा इसी तरह से पेश आना हम अपना धर्म मानते हैं।"

जब तक हरी ने अपनी बात कह न ली, तब तक किसी ने कुछ नहीं कहा। परन्तु बात समाप्त होते-होते चारों ओर से अनेक व्यक्तियों के मुँह से अनेक वाक्य निकल पड़े। किसी ने कहा—शाबाश! किसी ने कहा—इसी तरह बढ़े चलो। किसी ने कहा—मैं तुम्हारी बातों से पूर्ण सहमत हूँ। यहाँ तक कि फूफाजी ने भी कहा—तुम्हारी इन बातों को सुनकर तो मैं भी तुम्हारे ही पक्ष का होगया। गोकुलचन्द, इस घटना से कुछ सबक़ लो। यह ईश्वरीय दंड है। जो बात वहाँ होनी सम्भव न थी, वह यहाँ होकर ही रही! अब चलो, तुमको जो कष्ट हुआ हो उसके लिए मुझे माफ़ करो। पैर धोकर भीतर चलो। और लोग भी जो भीतर से बाहर आगये हों वे भी चलें।...वाह! यह तो अच्छा नाटक रहा! ख़ूब!!...

इतना कहकर जैसे ही फूफाजी अन्य लोगों को साथ लेकर भीतर जाने लगे, वैसे ही केदार, वीरेन्द्र, हरी और सहदेव-मामा एकान्त में एकत्र होकर विजय-हास से मुसकराते हुए परस्पर फुसफुसाने लगे।

हरी ने कहा—सहदेव-मामा ने प्रारम्भ बहुत अच्छे ढँग से किया था।

केदार बोला—लेकिन फूफाजी को अपने पक्ष में कर लेने लायक़ व्याख्यान तुमने बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में दिया।

सहदेव-मामा बोले—और वीरेन्द्र ने जिस वक्त गोकुलचन्द को धोबी कहा, उस समय उसका चेहरा फक होगया; उसकी वह चेष्टा देखते बनती थी ! और लालटेन हाथ में लेकर उसे देखने की वीरेन्द्र की वह आश्चर्य-भरी चेष्टा भी कम अद्‌भुत न थी !

हरी ने अन्त में कहा—अच्छा, अब हमलोग अपनी-अपनी जगह पर जाकर अपना-अपना काम सँभालें।

× × ×

चन्द्रमुखी के विवाह-कार्य को व्यतीत हुए आज तीसरा दिन था। सबेरा अभी हुआ ही था। अनेक आत्मीय सम्बन्धी चले गये थे। हरी, उसकी माँ तथा सहदेव-मामा जाने को बचे थे। अन्य दिनों की अपेक्षा आज ज़रा जल्दी उठकर हरी ने अपनी माँ के पास आकर कहा—अम्मा, अब तो हम लोगों को भी चलना चाहिए।

बुआजी बोलीं—हाँ, चलो। मैं तैयार हूँ। केदार से कह दे, हमारे जाने की तैयारी कर दे।

हरी ने कहा—उससे तो मैंने कल ही से कह रक्खा है।

माँ-बेटा आपस में ये बातें कर ही रहे थे कि इसी समय नन्दा कहीं से उधर ही आ टपकी। फिर प्रफुल्ल मुद्रा से उसने पूछ दिया—जान पड़ता है, जाने के सम्बन्ध में ही सलाह हो रही है।

बुआ बोलीं—हाँ बहू, तुम्हारा सब काम निपट गया। अब हम लोगों को भी चलना चाहिए।···मालूम नहीं; इतने ही

दिनों में कृष्णगोपाल ने क्या उपद्रव खड़ा कर दिया हो। यहाँ भीड़ में काम-धन्धे की चहल-पहल में मन उलझा रहा। फिर भी मेरा ध्यान कभी-न-कभी उधर चला ही जाता था।... और अब तो चिन्ता होनी ही चाहिए। इसीलिए तो मेरा एक दिन को भी कहीं बाहर रहना नहीं होता।

नन्दा बोली—अच्छा, तो तीसरे पहर शाम की गाड़ी से चली जाना। इस समय जाने से सारा दिन यात्रा में ही बीतेगा। फिर यात्रा में तुमसे कुछ खाया भी न जायगा। भूखी रहने से कौन जाने तुम्हारी तबियत ही ख़राब हो जाय! इसलिए खाकर जाना ही मुझे ठीक जान पड़ता है।

बुआ ने कहा—अच्छा तो ऐसा ही करो। लेकिन फिर शाम को मुझे गाड़ी मिल जाय, ऐसे वक्त से मुझे रवाना करवा देना।

नन्दा किंचित मुसकराती हुई कहने लगी—अच्छा-अच्छा, गाड़ी न छूटने पायेगी।

ऊपर की बात कहकर नन्दा भोजन बनाने की व्यवस्था में जा लगी।

हरी अपनी अम्मा के पास बैठा हुआ सोचने लगा—इतनी सब बातें हुईं, लेकिन भौजी ने मुझसे कुछ नहीं कहा। इतना ही नहीं, उन्होंने मेरी ओर देखा तक नहीं!

इतनी-सी बात को लेकर हरी तब बात की बात में उद्विग्न हो उठा। उसने मन-ही-मन कहा—ओह! यहाँ आकर इस बार मुझे यह हो क्या गया! भौजी ने मुझे कर क्या डाला! धूल में

खेलनेवाले लड़कों को कभी-कभी गीली मिट्टी के पुतले बनाते हुए देखा है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे भौजी के हाथों से मैं उसी प्रकार का कोई पुतला बन रहा हूँ! वह स्वतंत्र है कि मुझे चाहे जिस प्रकार का बना डाले, चाहे बना-बनाकर बिगाड़ कर फिर उस मिट्टी को मिट्टी ही रहने दे और चाहे तो एक अच्छी खासी मूर्ति या खिलौना बना दे। यह हरी इस नारी के हाथों जो ऐसा व्यर्थ-सा, निर्जीव-सा, विवश-विमूढ़-सा हो रहा है, यह बात क्या है?···बात यह है कि वह नारी है—समस्त अर्थों की नारी, हमारे मनोराज्य की एक मात्र सम्राज्ञी।···क्यों न मैं अम्मा से कहूँ कि क्या भौजी मेरे घर चल नहीं सकती?

ओह! तब इस बात को लेकर वह हरी, एकदम से फूले हुए कुसुम की भाँति खिल उठा। वह उद्यत हुआ कि बस अब कहता ही है! लेकिन निमेष मात्र में उसका स्वप्न शीशे के खिलौने के पत्थर पर अकस्मात् गिर पड़ने की भांति थोड़ा-थोड़ा करके टूट-फूट कर चूर-चूर हो गया। वह सोचने लगा कि कैसी भारी भूल वह कर रहा था! किस प्रसंग के व्याज में वह कहे कि भौजी को अपने साथ चलने की जरूरत है? यों ही, अकारण ऐसा कह देने का अधिकारी तो वह है नहीं। क्योंकि इस बात का जो कुछ अर्थ है, वह अपने आप में पूर्ण है। उस अर्थ को टस-से-मस कर देने की क्षमता कहीं देख नहीं पड़ती।

चारपाई पर माँ-बेटे अभी उसी तरह बैठे हैं, नन्दा यह देखकर एक कटोरे में दो बरफ़ी और चार पेड़े रखकर ले आई।

बुआ के पास कटोरा रखकर वह गिलास के पानी को चारपाई के नीचे रखने लगी। बुआ सिरहाने बैठी हुई थीं और हरी अलग दीवाल से लगा बैठा हुआ था। फ़र्श पर पानी भरा गिलास रखने में नन्दा को जो नत होना पड़ा, तो उठते हुए एकाएक उसकी दृष्टि हरी की दृष्टि में मिलकर एक होगई। तब प्रच्छन्न प्यार के कितने अव्यक्त मनोभाव उस एक ही दृष्टि-विनियम में उत्कीर्ण हो उठे, इसको जिस-जिसने जान पाया, वह मूक रहकर भी कितना उद्वेलित हो उठा, विवश होते हुए कैसा उत्क्षिप्त हो गया; और समर्थ होते हुए भी कैसा निद्रित बन गया, इसको कैसे प्रकट किया जाय और कैसे अन्तर्हित रक्खा जाय! कोई भी स्थिति किसी से भी कम संक्रामक नहीं जान पड़ती।

जैसे-तैसे तीसरा पहर भी आया।

बुआ जी का सारा सामान बहल पर रखा जा चुका था। उनको बिदा करती हुई चाची तथा नन्दा सदर दरवाज़े के फाटक तक आ खड़ी हुईं। चाची ने बुआजी के पैरों की रज को भाल पर लगाकर कहा—जाने अब कब दर्शन होंगे जीजी!

बुआ जी ने अब उन्हें साश्रुनयन देखा, तो उनकी भी आँखें आर्द्र हो उठीं। उन्होंने उत्तर में कह दिया—भगवान चाहेगा, तो अभी तो केदार के ब्याह में ही आऊँगी।···अब उन्होंने नन्दा की ओर देखा। पैर छूकर वह उनसे लिपट कर रो पड़ी। मातृहीना इस नारी ने उस क्षण में बुआजी के अंक से लगकर जो कुछ

पाया, उसके यथार्थ मर्म को तो नन्दा ने ही अनुभव किया। किन्तु रोते-रोते निर्बाध सिसकियाँ ले-लेकर उसने बुआजी को कितना अस्थिर कर दिया, यह अस्पष्ट नहीं रह सका।

उन्होंने कहा—अधिक न रोओ बहू, हाय! तुम्हारे दुख की तो थाह नहीं है। ज़िन्दगी भर तुम्हें रोना है। लेकिन मैं इतना बतला देना चाहती हूँ कि मेरे लिए जैसा मेरा हरी है, तुम उससे कम नहीं हो। तुम्हारा जी जब कभी यहाँ न लगे, तब तुम हमारे यहाँ भी आकर रह सकती हो। जब तक मैं बनी हूँ, तुम्हें किसी तरह की तकलीफ़ नहीं हो सकती। अब तुम जाओ बहू, भौजी तुम भी जाओ।

हरी दरवाज़े पर खड़ा था। बुआजी जब आगे बढ़कर उसके निकट पहुँचीं, तो एक पतली बेत की छड़ी लपलपाता हुआ हरी सदर फाटक की ओर ही देख रहा था। बुआजी ने कहा—अपनी भौजी और चाची से तो ज़रा मिल ले जाकर।

भीतर के ज्वालामुखी को कृत्रिम हास के ब्याज में दबाता और रह-रह कर असमर्थ-अभिभूत सा होता हुआ हरी कहने लगा—यही मुझसे नहीं होता। चलते चलाते रो-धोकर आँखें लाल कर लेने में जिन लोगों को सुख मिलता है, तुम तो जानती हो कि उनसे ऐसे समय मिलना मैं पसन्द नहीं करता।

माँ-बेटे आगे बढ़ गये और बहल चल दी। हरी और केदार पीछे-पीछे चलने लगे। तब चाची और नन्दा भी भीतर चली आयीं।

नन्दा भीतर आकर एक चारपाई पर लेट गयी। चाची भी उसके पास आकर बैठ गयीं। दोनों में से किसी ने किसी से कुछ नहीं कहा। इस समय नन्दा के आँसू सूख गये थे, किन्तु हृदय का रक्त जैसे खौल रहा था। शीतल निश्वास व्यर्थ होकर हार मानकर कहीं छिप रहे थे। हाँ, उस लम्बे कमरे की कड़ियाँ अलबत्ता कभी-कभी अपनी कथा कह उठती थीं।

इसी समय पद-ध्वनि करता धड़-धड़ाता हुआ हरी उस कमरे में आकर खड़ा होगया और बोला—अरे भौजी, एक पंखा तो दे दो झट से। बड़ी गरमी है! उफ़!

नन्दा हरी का यह अप्रत्याशित आगमन देखकर और उसके इतने ज़रूरी काम की बात सोचकर आह्लादित, विस्मित और स्तम्भित होकर हड़बड़ाकर उठ बैठी। फिर कंधे पर आगयी धोती को सिर तक ओढ़कर चारपाई से उठकर खड़ी होगई। एक पंखा उसकी चारपाई पर ही पड़ा था। अभी इसी ब्याह में बाहर निकाला गया था। वही उठाकर उसने हरी की ओर फेंक दिया।

उधर हरी ने चाची के पैर छूकर कहा—जल्दी में—और तुम लोगों के आँसुओं के डर से—मैं चलते वक्त मिलने नहीं आया था। इसकी माफ़ी चाहता हूँ।

अब उसने वहीं खड़े होकर हँसते-हँसते नन्दा से कहा—नमस्ते भौजी! अब चलता हूँ! तुम तो मेरे साथ चलने से रहीं।

नन्दा ने कोई उत्तर नहीं दिया। लेकिन जब हरी आगे बढ़ गया, तो पीछे-पीछे सदर फाटक तक वह चली ज़रूर गई। उसने लक्ष किया कि हरी वह गया—वह गया। अरे! उसका रूमाल जेब से निकला और मुँह तक आया—फिर आँखों तक!

तब वह फाटक के एक किवाड़ पर हाथ के सहारे सिर टेककर फूट-फूटकर रो पड़ी।

उधर केदार के पास पहुँचकर हरी ने कहा—इस बार इस ब्याह के अवसर पर तुम्हारे यहाँ मुझे कितना अच्छा लगा, यह मैं जीवन भर न भूल सकूँगा।

बुआ ने बहल पर से ही कहा—अब जाओ न केदार भैया, और कितनी दूर तक चले चलोगे?···अब तुम लौट जाओ।

केदार अब बुआ के पास आने को तत्पर हुआ। बहल के हँकवाल ने बैलों की रस्सी थामकर बहल को खड़ा कर दिया। केदार ने आगे बढ़कर बुआ के पैर छुए। आशीर्वाद में उन्होंने कहा—सदा सुखी रहो भैया।

अब केदार हरी से विदा लेने लगा। हरी की आँखें भरी हुई थीं। उसकी ओर देखकर केदार ने उसके पैर छूते हुए कहा—मुझे भूल न जाना हरी भैया! मुझसे जो भूल हुई हो, उसे भी भुला देना, आखिर मैं तुमसे छोटा ही हूँ।

हरी ने कहा—भूलें किससे नहीं होतीं? लेकिन जो हम उन भूलों से अपने आपको देखते हुए न चलें, तो हमारा आगे का रास्ता ही रुक जाय। भूलें मनुष्य से होती ही हैं, किन्तु वे तो

उसको आगे बढ़ाने के लिए होती हैं। खैर, इस तरह की बातें तो बहुत हैं। अब तुम जाओ। हाँ, जाओ। सदा प्रसन्न रहो।

नन्दा थोड़ी देर तक आँसू बहाकर, उन्हें पोंछकर, धीरे-धीरे फिर भीतर लौट आयी। उस समय बार-बार उसे हरी के वे शब्द याद आते रहे—तो भी मुझे कहने दो भौजी कि जन्म-जन्मान्तर के लिए मैं तुम्हारा ही हूँ।···समाज, धर्म और जीवन-मरण के बन्धन भी मुझे तुमसे कभी विलग न कर पायेंगे।...आज ही नहीं, कल भी नहीं, जब कभी भी तुम चाहोगी, मुझको अपनी आत्मा के निकट ही पाओगी।'

इधर कई दिनों से रात-दिन ब्याह के कार्य-भार की चक्की में पिसकर और फिर भीतर के हाहाकार से ध्वस्त होकर नन्दा कितनी शिथिल, कैसी स्फूर्तिहीन, हो गई थी, किसी को पता न था। शायद खुद नन्दा भी अपनी स्थिति के इस भाग से यथार्थ परिचित न थी। शरीर के रोम-रोम में न मालूम अब तक कौन-सी बिजली प्रच्छन्न भाव से काम कर रही थी कि नन्दा अत्यन्त श्रमित रहने पर भी कभी भीतर से ऐसी शीर्ण-जीर्ण नहीं बनी थी। पर आज इस समय जब वह फिर उसी कमरे में, उसी चारपाई पर आकर गिर पड़ी, तब उसे बोध हुआ, पलकों में, भाल में भारीपन तो आहो रहा है, साथ ही शरीर भी टूट रहा है।

तब चाची को बुलाकर नन्दा ने हाथ बढ़ाते हुए कहा—ज़रा देखो तो चाची, मुझी को मालूम पड़ता है, या मेरा भ्रम ही है कि मुझे ज्वर-सा हो आया है।

चाची हाथ थामकर बोलीं—ज्वर आना भी कौन बड़ी बात है ? रात-दिन काम में पिसती भी तो रही हो। हाँ बहू, ज्वर ही आगया है। अब लेट जाओ।...मैं सोचती थी कि कल मैं भी चली जाऊँगी। लेकिन जान पड़ता है मेरा जाना अभी और कुछ दिनों तक न होगा। नन्दा ने लेटने के बाद कहा—अभी तुम कैसे जाओगी चाची। जब तक बिटिया को विदा नहीं हो आती, तब तक तो तुमको रहना ही पड़ेगा।

चाची बोलीं—वैसे चाहे चली भी जाती, लेकिन तुम्हारे इस तरह गिर रहने से मुझे भी ऐसा ही देख पड़ता है कि तब तक मैं जा न सकूँगी। रहने में यों तो कोई विशेष हर्ज नहीं था, लेकिन यही खेती-बारी के काम में तुम्हारे काका इतने ज्यादा व्यस्त रहते हैं कि अकेले घर पर रह ही नहीं सकते।...कल ही चलने के लिए कहते थे। मैंने तुमसे कहा इसलिए नहीं कि कहीं तुम यह न कहने लगो कि एकसाथ इस घर को मैं किसी तरह खाली न होने दूँगी। आज जब मुझसे सुनेंगे कि अब तो मेरा रहना जरूरी हो गया, तो क्या कहेंगे !

नन्दा ने कहा—कहेंगे क्या ? उनके सिवा मेरा अपना कौन है जिससे मैं कुछ कह सकूँ। माता-पिता जो कुछ हो, तुम्हीं लोग तो हो।

ये चाची केदार की सगी नहीं हैं, चचेरी हैं। केदार के पिता, जो आँखें चली जाने के कारण कमरे में चुपचाप पड़े रहते हैं, अपने पिता के अकेले थे। हरिचन्द काका एक बहुत ही साधारण

किसान मात्र हैं। जमीन-जायदाद उनके कुछ नहीं है। इधर केदार के पिता ने अपने पिता से जो सम्पत्ति पायी थी, उसे थोड़े ही दिनों में बढ़ाते-बढ़ाते उन्होंने कई गाँवों में अपना हिस्सा कर लिया था। इस तरह केदार और हरिचन्द काका की स्थिति में बड़ा अन्तर पड़ गया था। लक्ष्मी की कृपा जिस पर हो जाय, वही समाज में अनायास ही प्रतिष्ठित बन जाता है। अतएव आज इस परिवार की इस बहू के मुँह से ऐसी आत्मीयता की बात सुनकर चाची स्तम्भित हो उठीं। अब तक वह समझती थीं, बहू गृहस्थी के काम-काज में प्रवीण और व्यवहार में बड़ी उदार है; परन्तु आज उसकी इस एक बात से उन्होंने यह भी समझा कि वह हृदय की कैसी उच्च और स्वभाव में कैसी सरल है!—हम लोगों को भी, जो रुपये-पैसे से ऐसे हीन हैं, वह अपना समझती है!

अब नन्दा ने पूछ दिया—कैसी चुप हो रही चाची?

चाची बोली—यों ही, मैं अभी सोच रही थी कि तुमको और तो सब कुछ मिला, लेकिन एक बड़े बेटा के न रहने से मानो सब बेकार हो गया!

नन्दा ने चाची की इस बात के उत्तर में कहना चाहा कि 'कोई भी मेरा नहीं था, मैंने किसी को भी नहीं पाया था। तब मैं कैसे जानूँ कि मेरा कुछ गया है!' किन्तु इस बात को वह कहती कैसे? फिर जो कोई इस बात के तत्त्व को समझ सकता, शायद उससे वह कह भी सकती! किन्तु उसकी यह अपढ़

और भोली चाची समाज के प्रति विद्रोह से भरे हुए इस विचार को किस रूप में ग्रहण करेगी, जब नन्दा का ध्यान इस बात पर जा पहुँचा, तो वह चुप रह गयी।

चाची बोली—बहू, बड़ेबेटा के व्याह में तो मैं आ न सकी थी; किन्तु इतना सुन लिया था कि तुम्हारे पिता ने तुम्हारी विदा नहीं की थी; क्योंकि उनके यहाँ ऐसा ही चलन था। हाँ, वर्ष के भीतर ही गौना दे देने की बात हुई थी। विवाह में क्या लुक-छिपकर भी तुमने बड़ेबेटा को कभी नहीं देखा था?

तब आँसुओं से भीगे स्वर में, ढके हुए मुँह के भीतर से ही नन्दा ने कहा—नहीं देखा था चाची और मैं अब सोचती हूँ कि यह भी एक प्रकार से मुझ अभागिनी का भाग्य ही था!

अदम्य नारीत्व के भाव-राज्य में यह 'अभागिनी का भाग्य' क्या चीज़ है, उस समय चाची इस बात को ग्रहण न कर सकीं। उधर नन्दा ने यह बात कह तो दी; किन्तु तदनन्तर उसे दुःख ही हुआ। वह सोचने लगी—अरे! मैंने यह कैसी बात इनसे कह दी। किन्तु फिर जब उसके मन में आया कि कौन जाने चाची ने इस बात को समझ पाया कि नहीं, तब उसकी चिन्ता-धारा मन्थर—अतीव मन्थर—हो गयी।

[९]

हरी चला तो आया, किन्तु अपने साथ एक हृदय-मन्थन, एक स्वप्न-राज्य, एक चिरन्तन अनुराग-ज्योति भी लेता आया।

यहाँ हरी के परिवार की बात सामने आती है। हरी के पिता दो भाई थे। रामदयाल बड़े थे। उनके छोटे भाई का नाम शिवदयाल था। शिवदयाल पढ़े-लिखे बहुत साधारण थे। इसीलिए वे खेती का काम करते थे। रामदयाल ने थोड़ा पढ़-लिखकर भी अपने अध्यवसाय से बड़ी उन्नति की थी। वे अपनी तहसील में एक मामूली आरायज़नवीस थे। फिर उन्होंने थोड़ी-सी अँगरेज़ी भी पढ़ ली थी। तहसीलदार साहब के घर पर जाकर उनसे अकसर मिलते-जुलते रहते थे। अवसर आने पर उनके निजी काम भी अपनी इच्छा से कर देने में उन्हें कभी कोई संकोच न होता था। कुछ दिनों के पश्चात् अचानक एक ऐसा अवसर आगया कि तहसीलदार के मामूली संकेत से उत्साहित होकर उन्होंने क़ानूनगो की परीक्षा पास कर ली। फिर क्या था! पहले एक दूसरी तहसील में उन्हें नायब-क़ानूनगो का पद मिला, फिर कुछ दिनों के बाद अपनी ही तहसील में वे सदरक़ानूनगो के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। इस पद पर रहकर उन्होंने अपने कार्य-काल में कई हज़ार रुपये जमाकर लिये थे। अन्त में जब उन्होंने पेंशिन ले ली और विश्राम का जीवन व्यतीत करने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा, तो अपनी संचित पूँजी से उन्होंने कई गाँवों में कुछ हिस्से ख़रीद लिये। हरिनाम इन्हीं रामदयाल की एक मात्र सन्तान है।

शिवदयाल के दो लड़के हुए, कृष्णगोपाल और राम-गोपाल। कृष्णगोपाल थोड़ा पढ़-लिखकर घर बैठ रहा। पैसे

की कमी न थी, वह दुर्व्यसन में पड़ गया। हरिनाम और रामगोपाल उस समय बहुत छोटे थे और गाँव के स्कूल में ही पढ़ रहे थे। एक दिन अकस्मात् रामदयाल की तबियत ज्यादा खराब होगई। उचित चिकित्सा से तबियत तो उनकी ठीक हो गई, लेकिन कुछ ऐसी आशंकाएँ उनके मन में पैदा हो गईं, जो किसी तरह मेटे न मिटीं। उन्होंने सोचा कि जीवन का कुछ ठीक नहीं, किसी भी समय मेरी आँखें मुंद सकती हैं। हरिनाम अभी पढ़ ही रहा है। मेरे मरने के बाद ही सारा प्रबन्ध शिवदयाल के हाथ में चला जायगा। उसका परिवार भी हमारी अपेक्षा विस्तृत है। ऐसी दशा में रुपये-पैसे को लेकर किसी दिन भी झगड़ा-झंझट खड़ा हो जायगा। उस समय किस करवँट ऊँट बैठे, कौन कह सकता है! इसलिए अपने सामने ही शिवदयाल को अलग कर देना ठीक है। यद्यपि शिवदयाल नहीं चाहते थे कि भैया के जीतेजी वह उनसे पृथक् हो; किन्तु भविष्य की असुविधा को देखकर उन्होंने सारी सम्पत्ति का आधाभाग शिवदयाल को देकर उन्हें पृथक् ही कर दिया।

बटवारा तो होगया; किन्तु शिवदयाल में अपने प्रति अधिक प्रीति देखकर भोजन-वसन का प्रबन्ध वे जीवन-भर एक साथ ही, समान रूप से, करते रहे। शिवदयाल को रहने के लिए उन्होंने एक मकान भी अलग बनवा दिया। जीवन-भर दोनों भाइयों की प्रीति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने पाया। यहाँ तक कि अलग-अलग मकान होने पर भी खाना उसी

पुराने घर में सब का एक साथ बनता रहा। कुछ वर्षों के बाद क्रम-क्रम से दोनों भाइयों का स्वर्गवास होगया। अब एक ओर रामदयाल का पुत्र अकेला एक हरिनाम और उसकी माँ हैं। दूसरी ओर सपत्नीक कृष्णगोपाल और रामगोपाल। कृष्णगोपाल ज़मीदारी का कार्य-भर सम्हालता है। रामगोपाल ज़िला स्कूल में पढ़ता है। कृष्णगोपाल उमर में हरिनाम से पाँच वर्ष बड़ा है, रामगोपाल चार वर्ष छोटा।

हरिनाम जिस समय माँ के साथ अपने गाँव के स्टेशन पर उतरा, उस समय संध्या-काल के छै बज गये थे। असबाब ट्रेन के डब्बे पर से उठाकर उसने प्लेट-फ़ार्म पर रख लिया, उसकी माँ भी प्लेटफ़ार्म पर उतर पड़ीं। दो मिनट मुसाफ़िरों के संघर्ष में बीते। हरी ने असबाब को वहीं छोड़कर माँ से कहा—तुम यहीं एक ओर बैठी रहो अम्मा। असबाब की ओर भी देखती रखना। मैं ज़रा इधर-उधर देख लूँ, गाँव से सवारी लेकर कोई आया है कि नहीं।

माँ ने कहा—मैं भी तब से यही देख रही हूँ। यहाँ से तो मुझे किसी ओर, कोई भी, देख नहीं पड़ा। ख़ैर, तुम स्टेशन के उस पार भी जाकर देख लो। टिकट भी उधर ही देते आना।

हरी दूसरी ओर चला आया। स्टेशन-मास्टर को 'नमस्ते' करते हुए उसने दो टिकट उनके हाथ में दे दिये। स्टेशन-मास्टर साहब हरी के परिचित थे। 'नमस्ते' का उत्तर नमस्कार में देकर

बोले—दो दिन से तो सवारी लौट-लौट जाती रही है। आज की बात मैं नहीं जानता।

तब हरी स्टेशन से नीचे उतरकर देखने लगा कि कोई आ तो नहीं रहा है। इसी समय उसे पहले तो घूँघरों का स्वर सुनाई दिया, फिर अपने ही बैलों के-से सींगों को लेकर उनका सम्मुख भाग और फिरक (सवारी) स्पष्ट देख पड़ी। समय पर सवारी न मिलने की जो चिन्ता मुख पर उद्दीप्त हो उठी थी, वह बात की बात में प्रशान्त हो गयी। देखा—हकवाल और कोई नहीं, अपना पुराना नौकर वंशी है।

दूर से ही हरी को देखकर वंशी भीतर ही भीतर आतंकित हो उठा। निकट आते ही पहले उसीने पूछा—क्या मुझे आने में कुछ ज्यादा देर हो गई सरकार ?

हरी वंशी की सरलता को जानता है। उसके भीतर कौन-सी त्रुटि ऐसी है, जिसको छू भर देने से वह शर्म के मारे सिर नीचा कर लेगा और जमीन में गड़ जाना चाहेगा; हरी इस तरह की उसकी अनेक बातों से परिचित है। इसीलिए वह कभी-कभी मज़ा लेने के लिए भी उसे यों ही, झूठ-मूठ, तंग कर डालता है; फिर अन्त में जब वंशी उस स्थिति को पहुँच जाता है कि उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ने की नौबत आ जाती है, तब कहीं उसे छोड़ता है। इस समय भी उसे इसी तरह का एक विनोद सूझ गया। वह बोला—हाँ, कुछ ऐसी ज्यादा देर तो

नहीं हुई ! सिर्फ़ दिन भर से यहाँ पड़ा हूँ ! असबाब भी उधर ही रक्खा है और माँ भी वहीं बैठी हैं !

हरी की बात सुनकर वंशी ऐसा सन्न हो उठा कि उसका मुख म्लान पड़ गया। झट से फिरक पर से उतरकर वह स्टेशन के उस पार जाकर असबाब उठा लाने के लिए विकल हो उठा। बैलों की रस्सी को उसने फिरक के दोनों ओर की पैजनियों में बाँध दिया और फिर झटपट उस पार जाकर असबाब उठाने के लिए दौड़ गया। हरी ने तुरन्त उधर जाकर माँ को बुला लिया। माँ को तुरन्त बुलाने में उसने इतनी तत्परता इसलिए की, जिसमें वंशी माँ से अलग बात करने का अवसर न पा सके।

असबाब फिरक पर रख गया और माँ भी बैठ गयीं, तो फिरक में बैलों को नहकर वंशी बोला—अब सरकार भी बैठ जायँ, तो मैं चलूँ।

हरी ने कहा—तुम चलो, मैं साइकिल पर आता हूँ। हमारी साइकिल लाकर बड़े बाबू के यहाँ रख दी थी न ?

वंशी इस बात से और भी अचकचा गया। उसको किसी ने इस तरह का आदेश नहीं दिया था। उसे मालूम भी नहीं था कि वे किसी से साइकिल रख जाने की बात कह गये हैं। इसीलिए वह उसकी बात सुनकर स्तम्भित हो उठा। किसी तरह का कोई भी उत्तर उसके मुँह से नहीं निकल सका।

तब हरी ने कृत्रिम क्रोध से विवर्ण होकर उत्तेजना के साथ कहा—क्या बताऊँ, बाबू जी की बातों का ख़याल करके

रह जाता हूँ। नहीं तो जितने भी पुराने नौकर हैं, सबको एक साथ कान पकड़कर निकाल दूँ। मैं तो इनके मारे परेशान हो गया हूँ।...लाचारी है। नाक, कान और आँखों के रास्ते से सेर-दो सेर धूल न खाऊँगा, तो घर पहुचूँगा, कैसे ?

उपर्युक्त बात के अन्तिम हिस्से को कहता हुआ धीरे-धीरे हरी फिरक पर आकर बैठ गया। वंशी अभी तक तो अपने इस अपराध से ही बहुत सशंकित था कि मुझे आने में देरी हो गई, अब उसे यह भी सोचना पड़ा कि हकीकत में सरकार जब कभी अकेले बाहर जाते हैं, तो स्टेशन तक साइकिल पर ही आते जाते हैं। ऐसी हालत में यह भी उस पर एक अपराध ही है। यद्यपि कभी-कभी वह यह भी सोच लेता था कि वह बात तो तब होती थी, जब वे .खुद अकेले बाहर जाते-आते थे। पर इस बार तो वे माँ के साथ गये थे। इसलिए यही सोचकर कि वे .खुद भी फिरक पर चले आयेंगे, वह साइकिल ले चलने की बात सोच नहीं सका था। किन्तु इतना एक बार सोच लेने पर भी न तो हरी से इस बात के कह देने का उसे साहस ही होता था, न उसकी तर्क-बुद्धि के कोष में यह बात कुछ स्थायी रूप से जमती ही थी।

फिरक जब चल उठी और रेलवे-लाइन के निकट के रास्ते को पार करके गाँव की ओर ले जानेवाली सड़क पर आगयी, तो माँ ने पूछ दिया—गाँव में और तो सब कुशल है न वंशी ? कोई ख़ास बात तो नहीं हुई ?

वंशी ने कहा—और तो कोई ख़ास बात नहीं हुई। हाँ, बड़े भैया ने पुरवा के बाग़ के, अपनी तरफ़ के जो दोनों बड़े-बड़े शीशम के पेड़ थे, उन्हें कटवा डाला है। सुना है, उस लकड़ी से कुरसियाँ, मेज़, पलँग बनवा रहे हैं।

यह बात कहकर उसने बैलों की पूँछ को लेकर उन्हें ऐसा गुदा-गुदा दिया कि वे और भी तेज़ी के साथ चल हुए।

अम्मा जानती थीं कि गाँव से पीठ फेरने पर कोई-न-कोई उपद्रव किये बिना बड़ेबेटा मानेंगे नहीं। वही बात हुई। वंशी के मुँह से इस बात को सुनकर वे एकदम से उत्तेजित होकर जल उठीं। बोलीं—अच्छी बात है। चलकर देखती हूँ। अगर तेरी बात सच निकली, तो मुए को देखूँगी कि सज़ा काटे बिना कैसे बचता है! अपनी पूँजी तो, इसका सत्यानाश हो, फूँक-ताप करके बैठा ही है, अपने छोटे भाई को भी दो टुकड़े खाने लायक़ नहीं रखना चाहता। साथ ही हमारे माल पर भी इसके दाँत लगे हैं।···मैंने तुझसे कितना कहा था हरी कि तू ही चला जा बेटा। मैं न जाऊँगी। लेकिन तू भी केदार के कहने के मोह में पड़ गया। दो शीशम के पेड़ कितने रुपये के होंगे वंशी?—बतला तो सही।

वंशी क्या जाने कि शीशम के पेड़ किस भाव बिका करते हैं! न कभी उसे अपने लिए शीशम के पेड़ ख़रीदने का अवसर मिला, न किसी दूसरे के लिए। सुबह पाँच बजे का आया हुआ, या तो दिनभर घर के चौपायों के चारे-दाने की तैयारी में लगा

रहता है, या खेतों पर हल जोतता, अथवा कोई काम करता रहता है। दुनियाँ में खेत-पात, चारा-दाना, गाड़ी-बैल, हल-मांच को छोड़कर वह और कुछ नहीं जानता। सौ और पचास रुपए में कितना अन्तर है, यह भी उसे नहीं मालूम। तब वह क्या जाने कि वे शीशम के पेड़ किस क़ीमत के होंगे। लेकिन वह अपने मन को क्या करे, जिसमें बार-बार एक आवाज़ उठती है कि उसे ऐसे अवसर पर रुपये की संख्या अधिक ही बतानी चाहिये। न बताना ठीक नहीं है और कम बताना तो और भी ठीक नहीं है। इसलिए अधिक बताने से बढ़कर दूसरी बात हो नहीं सकती। चलो, एक बात के निश्चय हो जाने से तो उसकी जान छूटी। अब रह गई यह बात कि रुपये की वह संख्या कौनसी हो! तब उसके स्मृति के कोष में तीन तरह की संख्याओं के नाम आ गये। पचास-साठ, बीस-बाइस, और दस-पन्द्रह। अब वह ठीक-ठीक यह भी निश्चय न कर सका कि पचास-साठ अधिक होते हैं कि बीस-बाइस। दस-पंद्रह छोटी तादाद है, इसका उसे कुछ थोड़ा आभास था। तब एक-आध बार इधर-उधर सोचकर उसने कह दिया—यही बीस-बाइस रुपये के होंगे?

अब अम्मा ने हरी से पूछा—क्यों हरी, वे पेड़ बीस-ही-बाइस रुपये के होंगे?

हरी उस समय और ही उलझन में था। जब वंशी ने कहा था कि किशन भैया ने वे पेड़ कटवा लिये हैं, तब उसे बुरा लगा था। किन्तु जब आगे चलकर उसने यह भी साफ़ कर

दिया कि किस लिए उन्होंने पेड़ कटवा लिए हैं, तब उसने आप ही आप यह तै कर लिया था कि होगा, पेड़, माना कि कटवा लिए हैं और हानि भी कुछ हो ही गई है, तो भी उस लकड़ी से फ़रनीचर ही तो बनेगा! उससे एक घर की शोभा ही तो होगी। फिर अगर वे मुझसे पूछकर ही कटवाने की इच्छा करते, तो मैं क्या उन्हें मना कर देता! इसलिए यह तो कोई बात ही न हुई। इसके बाद उसके मानस-चक्षुओं के समक्ष एक नारी-मुख आगया। यौवन-दृप्त कलेवर, आभरणहीन देह-यष्टि पर श्वेत शुभ्र साड़ी और उसका वह मुख!—अश्रु-सिंचित पलकें, अवसाद-गर्भित मुद्रा और बाहर निकल पड़ने को सन्नद्ध से वे मृग-लोचन!

उस समय वह अपने आपको लेकर सारे संसार को भूल गया! पलक मारने भर की देर में मानों अनन्त रत्नाकर में आकण्ठ जलमग्न नारी का वह मुख ही मुख उसे देख पड़ने लगा। तब उसकी दयनीय स्थिति से द्रवित इस प्रकार की भावना में यदि वह दो-चार मिनट भी और रहता, तो उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ते! किन्तु ग़नीमत इतनी ही हुई कि उसी समय उसकी माँ ने उससे उपर्युक्त प्रश्न कर दिया।

तब स्वप्नाविष्ट की भांति वह बोला—वे पेड़! उन दोनों को तीस रुपये में कोई भी ले लेता।

अब वंशी सोचने लगा—'मेरी यह बात भी कट गई! घर पहुँचते-पहुँचते मालूम नहीं और कौन-कौन सी ग़लतियाँ होंगी!

आज न जाने किस दुष्ट का मुँह देखकर उठा था कि जो कुछ न हो जाय, थोड़ा है ! साथ ही उसे ख़याल आगया कि चारपाई से उठकर उसने पहले-पहल अपने घर की बकरी का ही मुँह देखा था। तब उसी कारण आज मेरी यह छीछालेदर हो रही है ! अब इस बकरी को बेचकर ही दम लूँगा। जान पड़ता है, जब-जब मुझपर डाँट पड़ी है, तब-तब उस बकरी का ही मुँह देखकर उठता आया हूँ ! बस, यही बात है !—यही। तभी तो बकरी की छींक महा निषिद्ध मानी गई है।

अम्मा ने कह दिया—ये तीस रुपये तो मैं उसके कलेजे से निकाल लूँगी ! देखती हूँ, कैसे नहीं देता है ?

हरी अभी तक चुप है। बड़े भैया के विरुद्ध आग के जलते हुए अंगारों के समान जो शब्द उसकी माँ के मुँह से निकल रहे हैं, उनको वह चुपचाप सुन रहा है। किन्तु कहीं भी, उसके हृदय के भीतर किसी भी कोने में, माँ के शब्द उसने ग्रहण नहीं किये। हाँ, इतना ज़रूर हुआ कि कभी-कभी सोच लिया—होगा। पेड़ कटवा लिये, तो इसमें बुराई की क्या बात है ? चीज़ तो अपनी ही थी न ? माना कि बटवारे में उनकी न होकर वह मेरी ही हुई थी, तो भी यह कोई बात है ! छिः यह तो कोई बात ही न हुई !

कभी-कभी अनेक बातें कह लेने पर भी जब हरी की माँ को जान पड़ने लगता है कि मेरी बात का यह जो कोई उत्तर नहीं देता है, इसका कारण यह है कि यह उस पर धूल डाल

रहा है, सुनी-अनसुनी कर रहा है, तो वह इस हरी को भी दो-चार खरी-खोटी सुनाये बिना नहीं रहती। इसीलिये हरी ऐसा समय उपस्थित होते से भयभीत रहता है। माँ के इतना कह लेने के बाद भी जब हरी ने एक शब्द तक उसके समर्थन या विरोध में नहीं कहा, तो हरी के ही मन में आया कि बस अब कुछ ही क्षणों की और देर है, जब माँ मुझे भी अछूता न छोड़ेंगी। इसलिए वह वंशी को सुनाकर कहने लगा—मैंने कहा न था अम्मा कि जितने भी पुराने नौकर हैं, सब नमकहराम हैं। नहीं तो क्या उनसे साँप-काटे आदमी के कान में मंत्र फूकने की तरह हरएक बात ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर कहने की ज़रूरत है? इस वंशी को काम करते हुए ज्यादा नहीं तो बीस वर्ष तो हो ही गये होंगे! क्या इसको यह भी बताने की ज़रूरत थी कि मेरे लिए अगर साइकिल ले आकर स्टेशन के बाबू के यहाँ छोड़ जाता, तो आज इस तरह मुझे धूल फाँकने के लिए तो मजबूर न होना पड़ता!

अम्मा तो भरी बैठी ही थीं। बोलीं—जैसे तुम हो, वैसे ही तुम्हारे सब नौकर भी हैं। नहीं तो क्या मेरे पेड़ कटवा लिये जाते! इन लोगों से इतना भी नहीं हो सका कि सब मिलकर उस सत्यानाशी के पास जाकर कहते कि जब तक मालकिन न आ जाँय, तब तक आप हमारे ऊपर मेहरबानी करके इन पेड़ों को न कटवायें। इतना कहने पर किसकी मजाल थी कि उन्हें कोई छू भी जाता। पर असल बात तो यह है कि ये लोग भी जैसी

नीति देखते हैं, वैसा ही करते हैं। रियासत के काम में अगर तू ज़रा भी चित्त लगाता, तो ऐसी नौबत कभी आ ही नहीं सकती थी।

अब हरी ने पूछा—क्यों रे वंशी, पेड़ जब कटवा लिये गये तो मुंशीजी ने क्या कहा ?

वंशी बोला—सरकार, मुझे और कुछ भी नहीं मालूम है।

अम्मा ने पूछा—रात को बाहरी चौक में और छत पर कौन-कौन सोते थे ?

वंशी बोला—सबेरे जब मैं आता था, मुझे बाहर कल्लू और माधव सोते हुए मिलते थे। छत पर कौन सोता था, यह मैं नहीं जानता।

हरी ने तब ख़ूब ज़ोर से चिल्लाकर डाँक दिया—गधा कहीं का ! जिस बात को पूछो, उसी के लिए जब देखो तब यही उत्तर दिया करता है कि मैं नहीं जानता।...आज दोपहर को कै पनेथी खाई थीं सो याद है कि नहीं ?

वंशी बनाय सिटपिटा गया। सचमुच उसे यह भी याद नहीं था कि उसने तीन-चार बार में कै पनेथियाँ खाई थीं। तब वह कुछ कह न सका।

अम्मा ने इसी समय कह दिया—जाने दे, क्यों उसके पीछे पड़ा है। जैसा मेरा यह वंशी है, वैसे ही अगर और भी नौकर होते, तो आज मुझे इस तरह झींखना न पड़ता।

अब हरी अम्मा की ओर देखकर हँसते-हँसते कहने लगा—हद हो गई अम्मा ! देखो, इसको यह तक याद नहीं कि आज इसने कितनी रोटियाँ खाई थीं !

"तो क्या वह रोटियाँ गिन-गिनकर खाता है ?"—अम्मा ने कहा।

"अरे ! तुम यह कहती क्या हो अम्मा ! ये लोग अगर रोटियाँ गिन-गिनकर न खायँ, तो इन्हें खाने का अन्दाज़ ही न मिले। या तो ज्यादा खा जायँ, या भूखे रह जायँ। सच अम्मा ! न मानो तो इसीसे पूछ लो !"...हरी ने सरल हास से कहा।

अम्मा ने भी उसी प्रकार पूछ दिया—क्यों रे वंशी ?

जो वंशी अभी तक क्षण-क्षण पर अकल्पित आशंकाओं से आतंकित हो-होकर भीतर ही भीतर आहत-सा, निराश-सा, चेतनाहत-सा हो उठता था, वही अपने मालिकों की इस साधारण-सी बात में कितना प्रसन्न हो उठा, यह हरी ने तब जान पाया, जब उल्लास की लोल हिलोर में भीगकर वंशी ने कहा—"सरकार ठीक कहते हैं !" और साथ ही दोनों हाथों से बैलों को उनकी पूँछ के द्वारा ऐसा गुदगुदा दिया कि वे दो फ़र्लांग तक बराबर दौड़ते ही चले गये।

ख़ूब अँधेरा हो गया था और हरी अपने गाँव की हद पर की नहर को भी पार कर गया था। अपने बाग़ के निकट से गुज़रने पर अम्मा ने कहा—अरे ! यह तो अपना बाग़ आ गया !

तब तो बहुत जल्द आ गये। स्टेशन से चले हुए अभी देर ही कितनी हुई !

वंशी बोला—आ तो और भी जल्दी जाते, लेकिन क़सूर मेरा ही है। रोटी खाकर मैं जो चारपाई पर लेट गया तो एक झपकी लग गई। तुम्हारी बहू ने भी नहीं उठाया। इसी से देर हो गई।

अम्मा ने कहा—देरी क्या हुई, जब तू पहुँचा था, उसके दो मिनट पहले तो मैं उतरी ही थी।

अब वंशी को मालूम हुआ कि हरी ने मुझे डराने के लिए ही वह बात कही थी !

हरी ने फिर भी हँसते हुए कहा—अब इतना झूठ न बोलो अम्मा कि वंशी बेचारा उसे समझ तक न सके। सबेरे से भूखी-प्यासी स्टेशन पर बैठी रही हो और इससे कहती हो कि देरी नहीं हुई थी ! वंशी सीधा-सादा आदमी है, तो क्या इतना भी वह नहीं समझता है ! नाराज़ ही होना है तो उसके बहुत से तरीक़े हैं।—मैके से पकान्न पूड़ी-पुआ लायी हो; बहुत होगा, इसे उनका टुकड़ा तक दोगी। लेकिन अब ऐसा नाराज़ होना तो ठीक नहीं है कि वह डर के मारे अपने घर में रूखी-सूखी रोटी तक भरपेट न खा सके !

अम्मा बोलीं—तू इसकी बातों में मत आना रे वंशी। हम लोग ठीक वक्त पर घर आ गये। पक्वान्न और पूड़ी-पुआ का तेरा हिस्सा भी कहीं नहीं गया है ! यह कैसा शैतान है, क्या

तू जानता नहीं है ? तभी तो वहाँ ममाने में भी, पूड़ी सेंकने में, इसने अपने को भी ऐसा जला डाला कि छाती में छाले पड़ आये।

हरी का द्वार आ गया था। वंशी ने बैलों को पुचकारकर फिरक खड़ी कर दी। हरी और उसकी माँ दोनों उतरकर घर के अन्दर की ओर चले गये। कल्लू और माधव असबाब उतारने लगे।

ज्यों ही हरी मकान पर आ पहुँचा, त्योंही गाँव भर में, एक ओर से दूसरी ओर, उसके आ जाने का समाचार फैला गया। इस सप्ताह के अन्दर कृष्णगोपाल ने हरी के असामियों को इतना परेशान किया कि वे बेचारे हरी के आने की बाट जोहते-जोहते निराश से हो गये थे। उन्होंने जब सुना कि छोटे भैया आ गये हैं, तो उनमें हार्दिक प्रसन्नता की एक लहर-सी दौड़ गयी।

आठ बजने का समय था। रात उजेली थी और हवा बहुत ही शिथिल गति से बह रही थी। वंशी जब जाने लगा, तो हरी ने कहा—मुलुवा नाई को भेज देना।

मुंशी कालकाप्रसाद हरी के कारिन्दा थे। कई दिन से वे घर न जा सके थे। पास ही दो मील पर उनका गाँव था। हरी ने घर पहुँचने पर हाथ-मुँह धोया, जल-पान किया। फिर वह बाहरी चौक में अपनी बिछी हुई चारपाई पर आकर लेट गया। इसी समय मुंशीजी भी उनके पास पड़ी हुई एक कुरसी पर आकर बैठ गये।

हरी ने कहा—कहिये मुंशीजी, इस हफ्ते में कोई खास बात तो नहीं हुई।

मुंशीजी चिन्तित मुद्रा से बोले—क्या बताऊँ छोटे भैया, इन्हीं पाँच-सात दिनों में कई ऐसी बातें हो गईं, जो शायद इतनी जल्दी और ऐसे दर्दनाक तरीक़े से न होतीं। मैं तो आपके आने का एक-एक दिन गिन रहा था। आप कह तो गये थे कि चार-छै दिन में लौट आयेंगे, लेकिन लग गये आपको पूरे आठ दिन।

"हाँ, दो-तीन ज्यादा ज़रूर लग गये। आप तो जानते ही हैं कि रिश्तेदारी में जाने पर फिर अपनी ही इच्छा से तो आया नहीं जा सकता।"—हरी ने कहा।

"हाँ फिर, यह तो होता ही है। ख़ैर, मैं इस समय ज़रा जल्दी में इसलिए हूँ कि इधर दो-तीन दिन से मैं घर नहीं जासका। चिन्ता लगी रही कि आप आ जायँ, तो जाऊँ। विशेष बातें तो कल होंगी। आज सिर्फ़ मोटी-मोटी बातें बताकर मैं चल देना चाहता हूँ। ज्यादा देरी भी नहीं हुई है। आठ का वक्त होगा। हाँ, इधर तीन बातें नयी हुईं। एक तो बड़े भैया ने हमारे हिस्से के दो शीशम के पेड़ कटवा लिये। दूसरे गंगादीन की भौजाई, वह जो मुसम्मात जमना है, बड़ भैया के घर किसी-न-किसी बहाने एक बार हाज़िरी देने आने लगी है। गंगादीन ने अपना दस मन धान बेचकर तीस रुपये रख छोड़े थे। वह इस इन्तिज़ार में था कि कब छोटे भैया आवें और कब मैं उनके पास पहुँचा दूँ। एक बार वह यहाँ आया भी था। इत्तिफ़ाक़ उस वक्त मैं भी यहाँ मौजूद न था; क्योंकि उसी दिन मुझे तहसील में पहुँचना था।···मौक़ा पाकर मुसम्मात

ने वह रक़म उड़ादी। सुनते हैं, वे रुपये सीधे बड़े भैया के यहाँ जा पहुँचे हैं। गंगादीन बेचारा रो रहा है और उसकी भौजाई उससे कहती है—मैं तुम्हारे साथ अब नहीं रह सकती। तुम चाहे जहाँ जाकर रहो। मेरा घर ख़ाली करदो।···आपको मालूम होगा कि गंगादीन बेचारा बाहरी आदमी है, जमना ने ही उसे बुलाकर रक्खा था। उसे यहाँ रहते हुए दस वर्ष होगये। यह हमारा बड़ा सीधा और ईमानदार असामी है।

तीसरी बात यह है कि अहीरों के पुरवा में हमारा जो असामी राधेलाल है, बड़े भैया के आदमियों ने उसके चार मवेशियों को मवेशीख़ाने भेज दिया। अपनी स्त्री का गहना गिरवी रखकर अभी कल वह किसी तरह उन्हें छुड़ा लाया है। दस रुपये दंड के उसे देने पड़े, उसकी गाय-भैंस भूखी रहीं, उनकी हड्डियाँ झलकने लगीं। इसके सिवा उसके कई दिन उनकी खोज में लगे, सो अलग।

आप हमेशा उनकी आँख का बचाव करते, उनके सामने आने से भय खाते और मैं या माँजी जब कभी कुछ कहती हैं, तो उन्हीं का ख़याल करके, उन्हीं का पक्ष लेकर, हमको किसी भी तरह उनका मुक़ाबला करने नहीं देते। पर अब तो आप अपनी इस सहनशीलता की नीति से उनके आगे ठहर न सकेंगे, यह मैं साफ़ तौर से कहे देता हूँ। हमको किस तरह चलना पड़ेगा, इस सम्बन्ध में और बातें अब मैं कल करूँगा। आपके कान में अभी इसी समय इसलिए डाल देना

मैंने उचित समझा, जिसमें आप इन पर विचार करलें। कल सबेरे आठ बजे मैं आ जाऊँगा !"

इतना कहकर मुंशीजी उठकर खड़े होने ही को थे कि मुलुवा सामने आगया। हरी ने पूछा—कौन, मुलुवा है क्या ?

मुलुवा ने कहा—हाँ सरकार।

हरी ने कह दिया—थका हुआ हूँ, ज़रा पैर तो दाब देना।

मुलुवा बोला—आप न भी बुलाते, तो भी मैं हाज़िर ही होता। मुझे आपसे एक फ़रियाद भी करनी है।

हरी ने पूछा—क्या—क्या ? ख़ैरियत तो है ?

मुलुवा ने आर्द्र कण्ठ से कहा—ख़ैरियत ही तो नहीं है सरकार। आज दोपहर की बात है। बड़े भैया ने मुझे बुला भेजा। उस वक्त मैं नहाकर भोजन कर चुका था। आप जानते हैं कि नहाकर रोटी खा लेने के बाद फिर मैं हजामत नहीं बनाता। सरकार, काम नीचे दरजे का करता हूँ, पर दिल तो छोटा नहीं रखता। बुलाना ही था, तो सुबह कहला दिया होता। मैं सिर के बल न पहुँचता, तो गुनहगार था। ख़ैर, मैंने कह दिया—अब तो मैं नहाकर रोटी भी खा चुका। अब आज सरकार माफ़ कर दें। हाँ शाम के वक्त छै बजे मैं हाज़िर हो जाऊँगा। उसी वक्त बना दूँगा, या कल सबेरे। फिर मैं आज जो शाम को उनके यहाँ गया, तो सरकार भीतर से नहीं निकले। वहीं से हुकुम दे दिया कि साले के दस जूते लगाकर धक्का देकर फाटक बाहर कर दिया जाय। साला हरी की...में दिन-रात

घुसा रहता है। यहाँ आने के लिए मिज़ाज दिखलाता है!—ये बातें उन्होंने इतने ज़ोर से कहीं कि मैं अगर उसी वक्त भाग न खड़ा होता और छिप न रहता तो मेरी जो भी दुर्गति न हो जाती, वह थोड़ी थी। सरकार आपके होते हुए ये सब बातें यहाँ दिन-रात होने लगीं। अब इस गाँव में हम लोगों का रहना कैसे हो सकता है!

मुंशीजी बोले—लीजिये, यह एक नया तोहफ़ा और लीजिये।...ख़ैर, अब मुझे इजाज़त दीजिये।

हरी ने कहा—जाइये, लेकिन साथ में एहतियातन किसी को लेते जाइये। वंशी घर पर होगा। न हो, उसी को लेते जाइयेगा।

मुंशीजी "अच्छा, लेता जाऊँगा।...पालागन" कहकर चल दिये।

हरी बोला—आशीर्वाद।...हाँ मुलुवा, तुम घबराओ मत। मेरे रहते किसी का बाल बाँका नहीं हो सकता।

मुलुवा चारपाई के पैताने बैठकर हरी के पैर दाबने लगा।

× × ×

आषाढ़ मास का पहला दिन है। छै बज गये हैं। सूर्योदय का समय हो गया है, किन्तु कृष्णगोपाल अभी तक सो रहे हैं। कारिन्दा साहब को इसी समय आ जाने का आदेश था। वे और उनके अतिरिक्त और भी दो आदमी फाटक के भीतर बैठे हैं।

ये कारिन्दा साहब उमर में कृष्णगोपाल के ही समान हैं। कानों के ऊपर के बाल सफ़ेद हो रहे हैं। नीचे की ओर लची हुई लम्बी-लम्बी मूछें हैं। पेट इतना थलथल हो गया है कि

अब उसे थोंद कहना अधिक मुनासिब होगा। सिर पर काली टोपी है और कोट-कमीज़ तथा पायजामा पहने हुए हैं। पान और तम्बाकू खाते रहने से दाँत काले पड़ गये हैं। जाति के खरे कायस्थ हैं। नाम इनका मुकुन्दीलाल है। लोग इनको मैनेजर साहब कहते हैं; क्योंकि मुंशी कहलाने में इन्हें उतना अच्छा नहीं लगता, जितना मैनेजर कहे जाने में।

कृष्णगोपाल यों तो प्रायः इस समय उठ जाया करते थे; पर आज अभी तक जो नहीं उठ सके हैं, इसका कारण है। लेकिन हमें उस कारण पर प्रकाश डालने की कोई ज़रूरत नहीं है। दुनियाँ में कुछ लोग इस प्रकार के भी होते हैं, जिनके प्रत्येक कार्य में कोई-न-कोई अभिप्राय छिपा ही रहता है। कृष्णगोपाल का जीवन भी इसी प्रकार का है। यह व्यक्ति इस ढंग का है कि इसके साथ रात-दिन छाया की भाँति रहे बिना कोई इसकी प्रकृति का परिचय प्राप्त कर नहीं सकता। इसके सिवा वह जब किसी भले आदमी को अपने घर सबेरे बुलाता है, तब उसका अभिप्राय यह होता है कि वह देर करके घर से निकले और लोगों को कम-से-कम घंटे भर का अवसर उसको प्रतीक्षा के लिए अवश्य दे। वह समझता है कि इसी में बड़प्पन है, शान है।

घर के खास निजी नौकर गोकुल को बुलाकर मुकुन्दीलाल ने कहा—भैया ने इसी वक्त बुलाया था। क्या अभी तक उठे नहीं।

गोकुल बोला—मैनेजर साहब, आप तो जल्दी चले गये थे न ? लेकिन यहाँ पर बड़ी रात तक गाना होता रहा। भैयाजी बारह बजे के क़रीब सोने चले गये थे। इसलिए आठ बजे से पहले क्या उठेंगे ! रात को बीबी भी तो यहीं रह गयीं।

मुकुन्दीलाल की बाछें खिल गयीं। उनका रोम-रोम एक मादक भावना से उत्फुल्ल हो उठा। आगे के दो-चार काले-काले दाँतों को झलकाकर बोले—अच्छा ! तो क्या अभी एक-आध दिन और भी बीबी के ठहरने की उम्मीद है !

गोकुल बोला—कौन जाने ? साजिन्दे तो आज सवेरे लौट गये। सिर्फ़ वही मियाँ, जो मजीरा बजाया करते हैं, रह गये हैं। वह देखिये, बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं।

जो दोनों प्रजाजन बैठे हुए थे, उनमें से एक बोला—मैनेजर साहब, आपके बुलाने से हम फ़ौरन चले आये हैं। पर भैया साहब के उठने में अभी देर है। आप इजाज़त दें तो ज़रा देर को मैं घर होता आऊँ। लड़के को कल से बुख़ार आगया है। अभी तक उतरा नहीं। इस वक्त उसको वैद्यजी को दिखलाना ज़रूरी है।

दूसरा कहने लगा—सरकार मैं भैंस दुहे बिना यों ही चल खड़ा हुआ था। अब उसके दुहने का वक्त होगया है। वक्त पर न दुहने से फिर क्या जाने क्या ख़राबी पैदा हो जाय !

मुकुन्दीलाल ने दोनों को सम्बोधन करके कहा—चुपचाप बैठे रहो, भैयाजी से मुलाक़ात कराये बिना तुम लोगों को जाने

नहीं दिया जा सकता। तुम लोग बड़े पाजी और बदमाश हो। जब तक इसका दंड तुम्हें नहीं दिया जायगा, अपनी बेजा हरकतों से तुम कभी बाज़ न आओगे।

एक—मालिक, मैंने ऐसा क्या क़सूर किया है जो आप नाहक़ हम पर ऐसी तोहमत लगा रहे हैं।

दूसरा—मालिक, मैं बहुत दुखिया हूँ, ईश्वर की मार से मैं यों ही अध-मरा रहता हूँ। फिर मुझ बेक़सूर को सज़ा दिलाकर आप क्या पायेंगे?

मुकुन्दीलाल कड़ककर बोला—बकवाद करने से ख़राबी ही पैदा होगी, कोई और नतीजा न निकलेगा।

इसी वक्त हरी के एक आदमी ने आकर कहा—मैनेजर साहब, बड़े भैया कहाँ हैं? मुकुन्दीलाल ने भौंहें तानकर, उस आदमी की ओर कड़ी दृष्टि से देखकर, पूछा—काम क्या है?

वह आदमी—मैनेजर साहब, बात आपसे कहने की होती, तो आपसे ही कही जाती। जो बात उनसे कहने की है, उसे आपसे कैसे कहूँ?

फिर उसी तरह कड़ककर मुकुन्दीलाल ने कहा—कैसे बोलता है, बेहूदा कहीं का!

वह आदमी—सरकार मैंने अभी आपसे ऐसी कोई बात नहीं की; फिर भी आप मुझ पर बिगड़ खड़े हुए। आपकी गालियाँ आपके असामी ही बरदाश्त कर सकते हैं! छोटे भैया के

आदमियों पर आपका रौब गालिब न हो सकेगा।···अब से ज़रा सोच-समझकर बोलियेगा।

जो दोनों असामी अभी जमीन में बैठे हुए कारिन्दा साहब से हाथ जोड़े गिड़-गिड़ा रहे थे, वे भी उसी आदमी के पास पहुँचकर बोले—क्या छोटेभैया आ गये?

हरी के आदमी ने कहा—हाँ, आ गये।

छोटे भैया के आने की खबर पाकर दोनों आदमियों के उदास मुख प्रसन्नता से खिल उठे। एक आदमी ने तो मन ही मन से कह भी डाला—अब कोई डर की बात नहीं है।

अब मुकुन्दीलाल उठकर खड़े हो गये और चिल्लाकर कहने लगे—कोई है नहीं जो इस आदमी की मूँछें उखाड़ ले। साला बढ़के बोलता है।

गोकुल भीतर चला गया था। बाहर आकर इसी समय कहने लगा—क्या है मैनेजर साहब, बात क्या है?···अरे गयादीन, तुम आये हो। कहो खैरियत तो है। क्या छोटे-भैया आगये?

गयादीन ने कहा—हाँ, आगये। माँजी ने बड़े भैया से कहने के लिए एक सँदेसा कहा है। उसी के लिए मैं खड़ा हुआ हूँ! मैनेजर साहब ने पूछा, तो मैंने यही कह दिया था कि बात उन्हीं से कहने की है, आपको क्या बतलाऊँ? इसी पर मैनेजर साहब बिगड़ खड़े हुए और जा-बेजा बकने लगे। तुम्हीं बताओ गोकुल, हम लोग सिपाही-प्यादा ठहरे। जैसे उनके, वैसे आपके।

कोई ज्यादा फ़र्क़ भी नहीं है। अपना-अपना चलने का ढँग है। आप लोग आपस में चाहे लड़िये, चाहे झगड़िये, लेकिन हम लोगों को तो बना रहने दीजिये। लेकिन आप तो ऐसी आँखें दिखाते हैं, जैसे सीधा निगल जायँगे।

मुकुन्दीलाल कहने लगे—सिपाही होकर यह मुझसे देखो कैसी बातें करता है! क्या यह बात बरदाश्त करने क़ाबिल है? भैया के आने पर मैं सबसे पहले इसी मामले को पेश करूँगा। मैं हरगिज़ हरगिज़ नहीं मान सकता। यह भी कोई मामूली बात है! इसको इतना भी इल्म नहीं है कि यह किससे बातें कर रहा है! जो आदमी दस हज़ार रुपये सालाना मुनाफ़ा की रियासत का मैनेजर हो, उसके साथ इस तरह की गुफ़्तगू!

गोकुल—अरे जाने दीजिये मैनेजर साहब, आप भी छोटे लोगों के मुँह लगते हैं।" कहता हुआ गयादीन की ओर देखकर दूसरी ओर मुँह करके मुसकराने लगा।

मुकुन्दीलाल बोले—क़ुसूरवार को मैं कभी माफ़ नहीं करता। हुकूमत का यह मेरा पहला वसूल है।

इसी समय कृष्णगोपाल बैठक में आकर बैठ गये। गोकुल पंखा खींचने लगा। मैनेजर साहब ने दोनों असामियों की ओर इशारा करके कहा—चलो, उधर चलो वहाँ पर तुम्हारी पेशी होगी।

गयादीन भी लपककर भीतर जा पहुँचा। सलाम करके तुरन्त उसने कह दिया—सरकार को माँजी ने याद किया है। कहा है, आज ही किसी वक्त आकर मिल लें। ज़रूरी काम है।

कृष्णगोपाल जब किसी के साथ कोई ज्यादती या बेजा हरकत करता अथवा उसके किसी दूसरे काम के सम्बन्ध में ही अम्मा जी को कुछ कहना होता, तो वे खुद अपने यहाँ बुलाकर उसे या तो समझा देती थीं, या डाँट देती थीं। अनेक वर्षों से अब तक यही चलन चला जा रहा था। लेकिन आज अपने नये मैनेजर के सामने छोटे भैया के एक सिपाही के द्वारा इस तरह की बात कृष्णगोपाल को सहन न हो सकी। आँखें चढ़ाकर उसने जवाब दिया--उनसे कह देना, मुझे आने की फ़ुरसत नहीं है। काम ज़रूरी है, तो जो कुछ उन्हें कहना हो, यहीं आकर मुझसे कह जायँ।

गयादीन ने "बहुत अच्छा सरकार" कहकर फिर सलामी दाग दी और तब बात की बात में वह फाटक से बाहर होगया।

अब कृष्णगोपाल ने पलँग पर बैठकर पनडब्बे में रक्खे हुए पान निकालकर दो-ठो मुकुन्दीलाल को दे दिये, दो-ठो खुद खा लिये। साथ ही पनडब्बे को बन्द करके तम्बाकू की डिबिया खोलकर उसमें से चुटकीभर तम्बाकू लेकर अपने मुँह में रख ली और फिर उस डिबिया को मुकुन्दीलाल के आगे बढ़ा दिया।

इसी समय भीतर के दरवाज़े की कुण्डी खटकने के कारण गोकुल पंखा छोड़कर भीतर चला गया। इधर दोनों मालिक-

मंत्री पान-तम्बाकू खा चुके, तो गोकुल ने भीतर से आकर कहा—भैयाजी, आपको बहू जी बुला रही हैं।

कृष्णगोपाल बोले—कहते नहीं बनता कि इस वक्त नहीं आ सकते ! अभी तो बाहर आये हैं। कितनी देर से ये लोग यहाँ बैठे हुए हैं !···मैनेजर साहब, देखा आपने, हिन्दुस्तानी नौकर कैसे अहमक़ होते हैं ?

गोकुल भीतर जाकर कह आया कि अभी भैयाजी नहीं आ सकते।

मुकुन्दीलाल को ऐसा नादिर मौक़ा काहे को कभी मिलता। फ़ौरन कृष्णगोपाल की बात के समाप्त होते ही, कहने लगे—कुछ पूछो मत भैयाजी, बड़े ही बदतमीज़ होते हैं। बात करने तक का शऊर उन्हें नहीं होता। फिर भी आपके यहाँ तो ग़नीमत है। छोटे साहब के यहाँ के नौकर तो इतने शोख और शरीर हैं कि उनको महज़ एक नज़र से देख लेने पर मेरा तो ख़ून खौलने लगता है ! अभी वह गयादीन आया था। मुझसे उलझ गया। पर यहाँ ठहरे पुराने चावल। वो-वो ज़हर बुझी हुई आड़ी-तिरछी बरछियाँ मैंने चलाईं कि वह भी याद करेगा। बल्कि कुछ ताज्जुब नहीं जो छोटे सरकार से भी एक की अठारह लगा दे।

कृष्णगोपाल अब सिगरेट सुलगाकर, एक कश खींचने के बाद, नाक से धुएँ के बादल उगलते हुए, कहने लगा—वह तो अभी लौंडा है। उसकी भी आप परवाह करते हैं !

मैनेजर साहब ने जवाब दिया—परवाह तो मैं ख़ुदा की भी नहीं करता। वह चीज़ ही क्या हैं? फिर भी मैंने यों ही एहतियातन आपसे ज़िक्र कर दिया। ख़ैर, ये लोग हाज़िर हैं आपके सामने। अब जो कुछ भी आप इनके बारे में तै करें, उस पर अमल किया जाय।

कृष्णगोपाल ने भौहों में गाँठ-सी लगाते हुए कहा—तुम लोगों ने शीशम के पेड़ काटने से इन्कार किया था। बक़ाया लगान इन लोगों पर कितना है मुंशीजी?

मैनेजर साहब झट से उठकर अलमारी में रक्खा हुआ बस्ता उठाने लगे। लेकिन पैजामे का इज़ारबन्द कुछ ढीला बँधा था—या कुर्सी की कील से उसका लटकता हुआ फुँदना उलझने के कारण—जो भी हो; ग़रजे कि पैजामा ढीला होकर खुल गया और कमर से खिसकता हुआ जूतों के ऊपर आकर धर रहा। ग़नीमत इतनी ही थी कि क़मीज़ काफ़ी नीची थी।

गोकुल भीतर जाकर लौट आया था और पंखे की डोरी थामकर फिर उसे खींचने लगा था। मुंशीजी को जो इस हालत में देखा, तो उससे रहा न गया। बोला—अरे मैनेजर साहब, बस्ता पीछे ढूँढ़ियेगा; पहले पैजामा तो सम्हाल लीजिये।

कृष्णगोपाल का ध्यान उधर नहीं था। वह सिगरेट सुलगाते और धुआँ उड़ाते हुए सोच रहा था कि अम्माजी ने जो मुझे बुला भेजा है और जो मैंने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया है, इसका नतीजा मेरे हक़ में कैसा होगा!...पेड़ जब कटवाह

लिये हैं, फ़रनीचर भी बन ही रहा है, तब अब इसके बारे में सिवाय इसके कि कह दिया जाय—तुम्हें ज़रूरत हो तो हमारे बाग़ के शीशम कटवा लेना। इनकी लकड़ी ज़रा अच्छी थी, इसीलिए मैंने सोचा कि इन्हीं को कटवाना ठीक होगा—और तो कोई चारा है। हरी कुछ बोलने से रहा।...न होगा दोपहर के वक्त मैं खुद ही चला जाऊँगा। इस वक्त ऐसा कह दिया है, तो क्या हुआ?—चले जाने से अगर अपना काम निकलता हो, तो चला जाना ही मुनासिब है!

इसी समय उसके कानों में गोकुल का हास-गर्भित कथन आ पड़ा कि पैजामा तो सम्हाल लीजिये!

कृष्णगोपाल हँसते हुए बोले—हक़ीकत में मुंशीजी, आप जैसे अच्छे हमारे मैनेजर हैं, वैसा ही अच्छा आपका पैजामा भी है—एकदम चुस्त, हर वक्त हर तरह की ख़िदमत करने को तैयार! हालांकि धुला हुआ हाल ही का है, सिकुड़न भी नहीं पड़ने पायी है, कोरों पर कड़ापन भी अब तक बरक़रार है; लेकिन इससे क्या हुआ! पैर चूमने के लिए हाज़िर तो है ही।

अचकचाकर जब तक मैनेजर साहब पैजामा सम्हालें-सम्हालें तब तक कृष्णगोपाल ने उपर्युक्त बात कह ही डाली।

ख़ैर साहब, पैजामा अगर नीचे न खिसक आता, तो जो बस्ता मैनेजर साहब खोज रहे थे, वह इतनी जल्दी मिल ही जाता, कौन कह सकता है? फिर जब नीचे खिसक ही गया, तो हुआ क्या? मर्दबच्चा ठहरे मुंशीजी, कोई मस्तूरात तो हैं

नहीं, जो उनके लिए ऐसे मौक़े पर शर्मिंदा होना लाज़िमी समझा जाय। फिर असल मतलब पर ग़ौर करना पहले मुनासिब होता है। इसलिए इस वक्त, बेमौक़े की, यह बातचीत उन्हें क़तई नापसन्द है। इत्तिफ़ाक़ की बात कि इस वक्त असामी यहाँ मौजूद हैं, इसके अलावा उनका ख़ास नौकर गोकुल भी है; वरना बड़ेभैया की भी यह गुस्ताख़ाना गुफ़्तगू मैनेजर साहब कभी बरदाश्त न करते, फिर चाहे जो होता; क्योंकि किसी मामले को टाल जाना उनकी हुकूमत के वसूल के बिल्कुल ख़िलाफ़ है।

जो किसान हाथजोड़े देर से बैठे हुए हैं; जो जानते हैं कि कुछ-न-कुछ ज़ोर-जुल्म अब हमारे ऊपर आने को ही है; जिनकी भीतर की साँस भीतर है, ऊपर की ऊपर; आहत पक्षी की भाँति जो तड़फड़ा रहे हैं; मुंशीजी के खिसकते हुए पैजामे के क्रिया-कलाप को देखकर उनके होंठो पर भी क्षणिक हास मुखरित हो ही उठा!

मैनेजर साहब आख़िर बस्ता ले ही आये। उसमें से एक कापी निकालकर उन्होंने उन बैठे हुए किसानों में से एक से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

जावब मिला—मोहन

प्रश्न हुआ—बाप का नाम?

जवाब मिला—जगधर

तब मैनेजर साहब ने कहा—तुम पर इस फ़सल के सत्ताइस रुपये बक़ाया हैं।

अब उन्होंने दूसरे की ओर जो दृष्टि डाली, तो उसने आप ही कह दिया—मेरा नाम दीना, बाप का नाम पंचम।

मैनेजर बोले—तुम पर पचीस रुपये चाहिये।

कृष्णगोपाल ने कहा—इन रुपयों के अदा करने का इन्तिज़ाम आज शाम तक हो जाना चाहिये। अगर शाम तक रुपये न आयेंगे, तो तुम लोगों के पास गाय-भैंस या जो कुछ भी होगा, चुकौते में ले लिया जायगा। जाओ, दिन भर का मौक़ा तुम्हें दिया जाता है।

कृष्णगोपाल की बात सुनकर दोनों की आँखों में आँसू छलछला आये।

मोहन की उमर चालिस वर्ष की हो चुकी थी। उसके अब तक सात बच्चे गुज़र चुके थे। यह आठवाँ बच्चा कई साल बाद उत्पन्न हुआ था। वह भी कल से बीमार था।

जिन लोगों की जिह्वा एक बार गरम दूध से जल चुकती है, वे लोग मट्ठा भी फूँक-फूँककर पीते हैं। दुनियाँ समझती है कि वे आदमी कैसे पागल हैं, जो बच्चे को एक दिन बुख़ार आने से ऐसे उदास हो उठते हैं। हाय! पागल दुनियाँ यह कहाँ सोचती है कि वह आदमी, जो एक ही दिन के बुख़ार में एक बार अपने एक मात्र बच्चे को खो चुका है, अगर ऐसा दुखी हो ही उठता है, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है!

मोहन सोच रहा था कि वैद्य को घर बुलायेगा, तो उसे कम-से-कम एक रुपया तो देना ही पड़ेगा। उस एक रुपये को वह कहाँ से लाकर देगा ? इस समय उससे कहा जाता है कि वह आज ही सत्ताइस रुपये लाकर दाख़िल करे !

दीना के दो लड़के हैं। एक तो गाँव के चौपाये चराता है, दूसरा उसके साथ खेती करता है। अपनी ज़िन्दगी के अड़तीसवें वर्ष में पहले पहल उसने यह भैंस ले पायी है। अभी इसको दूध देते हुए पूरा महीना भी नहीं हुआ है। इस भैंस को ख़रीदने में उसे अपनी स्त्री के पैर के चाँदी के कड़े बेच देने पड़े हैं। उसने सोचा था कि इस भैंस से जो घी होगा, उसको बेंचकर वह स्त्री को कड़े बनवा देगा। इस तरह भैंस उसे लाभ में पड़ जायगी। तीन अठवारे में उसने दस रुपये का घी बेचा था। वे दस रुपये ही अभी तक ज्यों-के-त्यों उसके यहाँ रक्खे हुए हैं। अभी महीनाभर पहले बड़े भैया से वह कह गया था कि सरकार इस फ़सल का लगान उस फ़सल में दे पाऊँगा। इस फ़सल में तो खेती में ऐसा कुछ अनाज ही पैदा नहीं हुआ कि आपको लगान देसकूँ। उस समय इन्हीं बड़े भैया ने और इन्हीं नये मैनेजर साहब ने उसकी बात मान ली थी। अब आज ही उससे कहा जाता है कि लगान बेबाक़ कर दो, वरना चुकौते में भैंस छीन ली जायगी।

"सरकार, मेरा यह आठवाँ लड़का है। सो भी कल से बीमार है। मेरे घर में रुपये-पैसे के नाम पर फूटी कौड़ी भी नहीं

है। मैं कहाँ से रुपया लाकर दूँ?" कहता हुआ मोहन रोने लगा।

"सरकार, मैं तो पहले ही अर्ज़ कर गया था कि इस फ़सल में लगान न दे सकूँगा। उस वक्त आपने मान भी लिया था। भस को दूध देते हुए अभी महीना भी पूरा नहीं हुआ। मैं कहाँ से रुपये लाकर दूँ?" दीना ने कहा और वह आगे बढ़कर कृष्णगोपाल के पैरों पर गिर पड़ा।

मैनेजर बोला—तुम साले सब-के-सब नमकहराम हो। यहाँ आकर पैर पड़ते, रोते और हुज़ूर-सरकार कह-कहकर अपना मतलब सीधा करते हो और जब कभी हमारा काम आता है, तो उस तरफ़ जा मिलते हो! अब बिना रुपया दिये किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता। जाओ, इसी समय जाकर रुपये का इन्तिज़ाम करो। चलो, हटो यहाँ से!

कृष्णगोपाल उठकर भीतर चले आये।

मोहन और दीना फाटक से बाहर आ ही पाये थे कि गोकुल दौड़ता हुआ पहुँचा। दोनों के अत्यन्त निकट आकर वह कहने लगा—एक-एक रुपये की बात है। किसी तरह कर-कराके ले आओ, तो सब ठीक हो जाय। नहीं तो तुम जानते ही हो, मैनेजर कैसा आदमी है!

मोहन बोला—हम एक पाई न देंगे, चाहे जो हो। छोटे-भैया के पास जाकर सारा कच्चा हाल कह देंगे। मैनेजर ने अभी समझा क्या है!

[१०]

आज कृष्णगोपाल की स्त्री अर्थात् बड़ीबहू ने खाना नहीं बनाया। सुबह बैठक से उठकर जब कृष्णगोपाल भीतर गये, तो बड़ीबहू ने कहा—अपने खाने का जैसा चाहे वैसा प्रबन्ध कर लो। मैं आज ही देवर के साथ मैके चली जाऊँगी। मुझे अब न तो इस घर से कोई वास्ता है, न यहाँ के लोगों से। काँच की ये चूड़ियाँ भर हैं, इन्हीं को देख-देखकर ज़िन्दगी पार कर लूँगी। रहे बच्चे, सो इतने छोटे हैं कि उनका अभी भरोसा क्या?

अन्तिम शब्द कहते-कहते उसकी आँखें भर आयीं।

कृष्णगोपाल कल ही से सोच रहे थे कि इलायचीजान का रात का रह जाना इस स्त्री को कभी सहन न होगा! वही बात उनके सामने आगयी। लेकिन स्त्रियों के इस रोने-धोने का ही अगर वे ख्याल करते, तो पतन के ऐसे गहरे गड्ढे में गिरते ही क्यों? स्त्री जाति के किसी भी तरह के, अनुकूल या प्रतिकूल, व्यवहार के लिये, उनके पास एक ही शब्द था—त्रिया-चरित्र। इसी एक शब्द के भीतर, उनके विचार में स्त्री-हृदय की वे समस्त भावनाएँ समाविष्ट हो जाती थीं; जो समय-समय पर, परिस्थिति के अनुसार, उसमें उदय हुआ करती हैं। किसी स्त्री ने अपनी अधिकांश सम्पत्ति किसी धर्मकार्य में दान कर दी, किसी मुसम्मात ने अपने भतीजे को गोद लेकर उसे अपनी जायदाद का उत्तराधिकारी बनाया, किसी औरत

ने अपने ही स्वामी को क़त्ल करवा दिया, कोई स्त्री कुएँ में गिरकर या गंगा में डूबकर मर गयी, किसी को मृगी, हिस्टीरिया, उन्माद अथवा क्षयी का मर्ज़ हो गया; तात्पर्य यह कि परिस्थिति चाहे जैसी रही हो, लेकिन किसी भी, पहले से अनिर्धारित, बात का यकायक फूट पड़ना उनके लिये एक त्रिया-चरित्र मात्र होता था।

इसीलिए इस अवसर पर वे कड़ककर बोल उठे—अच्छा! तो यही त्रिया-चरित्र दिखाने के लिए तुमने मुझे बुलाया था! लेकिन तुमने यह न सोचा (मूछों पर हाथ फेरते हुए) कि कृष्णगोपाल जो काम करता है, उसका नतीजा पहले ही से सोच लेता है। तुम औरतों के लिए यह कोई नयी बात थोड़े ही है। आज मेरी कमर की ताक़त घटती हुई देखती हो, तो देवर के साथ मैके चली जाने की धमकी दिखाती हो! अच्छा तो है! एक पंथ—दो काज इसी को तो कहते हैं। दिली हविस भी पूरी होगी; क्योंकि अभी अच्छा ख़ासा नया जवान है वह। और मुझसे रूठने, मेरी आरज़ू-मिन्नतें हासिल करने, का भी हौसला पूरा होगा! लेकिन तुमको यह भी मालूम है कि मेरा नया हण्टर महीने भर से भूखा टँगा है। आख़िर उसका भी तो मुझे कुछ ख़याल करना ही पड़ेगा।

बड़ीबहू फूट-फूटकर रोने लगीं।

विनोद अपनी बहिन को लेकर अभी-अभी ऊपर खेलने गया था। माँ का रोना सुनकर वह नीचे उतर आया! पीछे-

पीछे कान्ति भी चली आयी। विनोद कृष्णगोपाल के पैरों में लिपटकर बोला—बाबू दी अम्मा रोती कों ऐं ? बाबू दी, अले ओ बाबू दी, तुम छुनते कों नयीं ओ !

कृष्णगोपाल ने झिड़क कहा—चल हट; बाबू जी-बाबू जी लगाये हुए है। पटक दूँगा साले को, तो दम निकल जायगी ! बड़ा अम्मावाला बना है !

कान्ति अम्मा की गोद में चिपककर अलग रो रही थी। उसकी सिसकियाँ ऐसी तीव्रतम हो उठी थीं कि किसी तरह वह चुप ही न होती थी। इसी समय विनोद रोता हुआ माँ के पास पहुँचा। बड़ीबहू अब उसको कलेजे से लिपटाकर खूब सिसक-सिसककर रो पड़ीं !

कृष्णगोपाल अब आँखें निकालकर मस्तक पर रेखाएँ बनाते हुए कहने लगा--यह रोना-धोना फौरन बन्द हो जाना चाहिये। सुनती है कि मुझे हण्टर उठाना पड़ेगा ! मसल मशहूर है कि लातों की देवी बातों से नहीं मानतीं।

बड़ीबहू झट उठकर बच्चों को लेकर भीतर की ओर के कमरे में चली गयीं। अन्दर पहुँचकर उन्होंने भीतर की जंज़ीर लगा दी।

कृष्णगोपाल बाहर की ओर जाते हुए, थोड़े मुड़ कर पास ही लगे ज़ीने से मकान के ऊपरवाले कमरे में जा पहुँचे।

बीबी अभी पलँग पर लेटी हो थीं। बेले के फूलों का मुरझाया हुआ हार सिरहाने पड़ा हुआ था। पीठ पर पड़ी हुई लम्बी चोटी में गुँथा हुआ फूलों का गुच्छा अब भी ख़ूशबू की लहर उड़ाने लगता था। पान की लाली होंठों से नीचे उतर-उतरकर जहाँतहाँ मुद्रित हो गई थी। वस्त्रहीन देह पर पड़ी हुई झीनी रेशमी साड़ी कहीं निर्धारित स्थिति में थी और कहीं खिसककर अलग जा पड़ी थी।

कृष्णगोपाल उसकी इस रूप-छटा को दूर से खड़ा-खड़ा देखता रहा। अन्त में उसके निकट आकर वह उसके अलसाये हुए मुख पर अवनत हो ही पड़ा।

बीबी सोती हुई सपना देख रही थीं—

एक तालाब है, जिसके किनारे-किनारे ताड़ के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं। चारों ओर सीढ़ीदार घाट बने हुए हैं। वह कृष्णगोपाल के साथ नहाने गई है। देर तक दोनों उसमें जल-विहार करते रहे। अन्त में एक मगर आगया है। उसकी समूची टाँग को उसने अपने मुंह में धर लिया है। वह चिल्ला रही है कि दौड़ो, मगर मुझे निगले जा रहा है।···उधर घाट पर कहीं कोई नहीं है। कृष्णगोपाल भी उसे छोड़कर भाग खड़े हुए हैं।

बीबी को मगर के निगल जाने का उतना ख़ौफ़ नहीं है, जितना कृष्णगोपाल के इस व्यवहार का उसे सदमा पहुँचा है। इसी अवसर पर वह घबराकर उठने को होती है, उसकी आँखें

खुल जाती हैं और साँस बहुत तीव्र गति से चलने लगती है। उसका दिल धड़कने लगता है।

करवँट लेकर बीबी उठने ही वाली थीं कि आँखें खोलते ही उन्होंने देखा, कामातुर कृष्णगोपाल चुम्बन लेने के लिए उस पर झुका हुआ खड़ा है। अब उसे मालूम हुआ कि वह गाँव के एक ऐसे रईस के ज़ेरसाये में है, जो इस क़दर ऐय्याश और बेग़ैरत है कि रात-दिन, सोते-जागते, हुस्न-परस्ती के चोंचलों में ही शराबोर रहता है। एकबारगी अपने खुले हुए बदन को ढकती हुई वह उठ बैठी।

क्षणभर मौन रहकर उसने कृष्णगोपाल की ओर इकटक देखकर कहा—बाबू साहब; आपको हो क्या गया है? फिर तअज्जुब में डूबकर बोली—ऐं! यह रोने की आवाज़ कहाँ से आ रही है?

कृष्णगोपाल बोला—कुछ नहीं, बच्चों को वाइफ़ ने मारा-पीटा होगा।

बीबी ने तिरस्कार के व्याज में कहा—यह बच्चों के रोने की आवाज़ है! बाबू साहब, आप मुझे इन्सान नहीं, जानवर समझते हैं!

"इस वक्त आप ये कैसी बातें करने लगीं! सारा मज़ा किरकिरा कर दिया!"

"बस, अब मैं एक मिनट यहाँ नहीं ठहरना चाहती"—कह-

कर कपड़े बदलने के लिए वह कमरे की ओर चल खड़ी हुई। कृष्णगोपाल भी धीरे-धीरे पीछे-पीछे चल दिया।

बीबी ने उसे पास आते हुए देखकर दूर से ही कह दिया—आप इस वक्त तशरीफ़ ले जाँय और अपने वादे के मुताबिक़ सौ रुपये ले आयें।···मेरी तबियत ठीक नहीं है। मैं अब और ज्यादा यहाँ ठहर न सकूँगी।

"इस तरह तो आप रुपये पागईं और मैंने दे दिये!" कृष्णगोपाल ने व्यङ्ग्य में कह दिया।

"क्या कहा?"—तमककर कहती हुई इलायची तनकर खड़ी हो गई।

"ठीक ही तो मैंने कहा"—गम्भीरता से कहने के बाद कृष्णगोपाल थोड़ा मुसकराते हुए बोला—"रुपया वसूल करने का यह भी कोई तरीक़ा है।"

बीबी ने भृकुटियों में गाँठें डालकर कमरे के एक दरवाज़े को बन्द करते हुए कहा—जान पड़ता है, वह तरीक़ा मुझे आज आपसे सीखना पड़ेगा।

"इस तरह की बातों से कोई अच्छा नतीजा तो निकल नहीं सकता बीबीजान!"—कृष्णगोपाल ने तेवर बदलते हुए कहा।

"उस नतीजे की ख़बर मुझे किसी को बतलाने की ज़रूरत न पड़ेगी। गाँव-गाँव और घर-घर अपने आप वह ज़ाहिर हो

जायगी। महज़ दारोग़ा सुलतानसिंह के यहाँ एक पैग़ाम भेजने की तकलीफ भर गवारा करनी पड़ेगी।"

इलायची का इतना कहना था कि कृष्णगोपाल का चेहरा जैसे गहरी काली स्याली से पुत गया! पलकों के उत्तर-दक्षिण मुँदी हुई कालिमा अच्छी तरह से गहरी होकर झलकने लगी। रात को अधिक जागने, फिर पूरी नींद न सो सकने और इस समय की ऐसी अवांछित बातचीत के कारण न केवल ऊपर से, वरन् भीतर से भी वह अत्यधिक उन्मथित और उद्विग्न हो उठा। पापी और विषयी की हिम्मत कितनी! झट से वह नीचे उतर गया।

बड़ीबहू का रोना बन्द हो गया था। चारपाई पर पड़ी-पड़ी, अपने दुर्भाग्य की बातें सोचती हुई, वह छत की कड़ियाँ गिन रही थी। दोनों ओर कान्ति और विनोद लेटे हुए थे। कान्ति दूध पीकर सो गई थी। विनोद चुपचाप लेटा हुआ माँ से कह रहा था कि अम्मा, बाबू दी तुमको मालते हैं, तो अब मम्मा के घल कों नयीं तलतीं! अमबीं तलेंगे, तुम बी तलो।

इसी समय कृष्णगोपाल ने आकर कहा—अरे खोल तो जंज़ीर। उठ तो ज़रा जल्दी से।

बड़ीबहू ने अकल्पित आशंका से घबराकर तुरन्त जंज़ीर खोल दी।

कृष्णगोपाल कृत्रिम लज्जा में भरकर अनुताप-भरी मुद्रा में कहने लगा—जिस काँटे के छिद जाने के तुमको इतना

सदमा पहुँचा है, लो, मैं उसी को जड़ से उखाड़कर फेंके देता हूँ। अब तो ख़ुश हो जाओ !...अगर मैं ऐसा जानता कि तुम कभी इसे नहीं बरदाश्त न कर सकोगी, तो विनोद की वर्षगाँठ की ख़ुशी में इस तरह का प्रोग्राम ही नहीं बनाता।...ख़ैर, जो हुआ सो हुआ। अब मैं इस हरामज़ादी का मुँह भी नहीं देखूँगा। लाओ सौ रुपये तो निकाल दो। किसी तरह उसे निकाल बाहर तो करूँ !

झन्न से तालियों का गुच्छा कृष्णगोपाल के पैरों के पास आ गिरा। साथ ही बड़ीबहू ने यह भी कह दिया—रुपये सौ तो होंगे भी नहीं।···जैसा चाहो, वैसा करो। तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मैं कुछ नहीं जानती।

कृष्णगोपाल गुच्छे को उठाकर तीन ही मिनट में फिर उसी जगह पर आकर फेंक गया।

अब वह फिर बीबी के सामने था। नज़र मिलते ही कहने लगा—आपको इस तरह नाराज़ करने का न मेरा मंशा है, न शौक़। आप ही ने मंज़ूर किया था कि जितने दिन मैं रखना चाहूँगा, आप यहाँ रह सकेंगी। लेकिन एक ही दिन में आप इस तरह ऊब उठीं। ख़ैर, मैं आपको ज़बरिया तो रख नहीं सकता। रखना चाहता भी नहीं।···रह गई बात सौ रुपयों की। सो अगर आप दो-चार दिन ठहर सकतीं, तब तो रुपये तैयार हो ही जाते। कोई बात ही न थी। इस वक्त उन रुपयों की एवज़ में सोने का यह कंगन ले आया हूँ। यह असली सोने

का है। चार तोले से कुछ ज्यादा का ही होगा। इस वक्त यही आपकी नज़र है।

विजय-श्री से इलायचीजान का चेहरा खिल उठा। भृकुटियों से शर-संधान करती हुई आन्तरिक उल्लास के झकोर में उसने मुसकराते हुए कह दिया—शुक्रिया !···बस अब फ़ौरन मेरे लिए बहल तैयार करवा दीजिये।

कृष्णगोपाल नीचे आकर फिर बाहिरी बैठक में दाख़िल हो गया। पलँग पर बैठते ही उसने देखा, रामपुर के निवासी गोकुलचन्द बैठे हुए हैं। बोले—आज बहुत दिनों के बाद देख पड़े, भाई गोकुलचन्द। कहो, ख़ैरियत तो है ?

गोकुलचन्द बोला—हाँ, आप लोगों की कृपा से, जैसा कुछ हूँ, अच्छा हूँ।

"लेकिन तुम्हारी इस बात से तो कुछ और ही झलकता है। ऐसा जान पड़ता है, कोई एक ख़ास चिन्ता तुम्हारे भीतर ऐसी समा गई है कि तुम्हारी आवाज़ तक में शामिल होकर बोलने लगती है।"

"सचमुच बड़े भैया, बात ऐसी ही है। न तो तुम ऐसे पक्के ज्योतिषी हो कि किसी के दिल का पूरा राज़ जान सको, न तुमने इस तरह की और कोई विद्या ही सीखी है। फिर भी अक्सर मैंने देखा है कि तुम्हारी बातें बहुधा पूरी उतरती हैं !—यह बात सोच-सोचकर मुझे कभी-कभी बड़ा अचरज होता है।"

कृष्णगोपाल को छत पर से उतरते हुए तो इस बात का ध्यान था कि इलायची की रवानगी के लिए बहल तैयार करने को कह देना है, पर बैठक में आकर जब वे गोकुलचन्द से बातचीत करने में लग गये, तब उन्हें इस बात का ख्याल ही न रह गया। किन्तु बैठक के एक द्वार से मजीरची-मियाँ को उठकर कहीं जाते हुए देखकर उन्हें इस बात का स्मरण हो आया।

तब गोकुल से उन्होंने कह दिया—कलुआ से जाकर कह दे, बहल तैयार करके बीबी को उनके गाँव तक भेज आये।

गोकुलचन्द बोले—मैं कल आ न सका था। एक तो मुझे मालूम न था कि बीबी भी बुलाई जायँगी। इसके सिवा कुछ थका हुआ भी था; क्योंकि नेवते से अभी परसों ही तो आया हूँ।···छोटेभैया भी तो कन्या-पक्ष की ओर से वहाँ मौजूद थे।

गोकुल पंखा छोड़कर बाहर चला गया, जहाँ बढ़ई लोग कुरसी-पलँग बनाने में लगे हुए थे। कलुआ वहाँ उन्हीं लोगों के पास बैठा हुआ चिलम मुँह से लगाए तम्बाकू पी रहा था।

कृष्णगोपाल बोला—अच्छा, तब तो वहाँ की सभी ख़ास बातें तुम्हें मालूम होंगी। केदार अब तो सयाना हो गया होगा। अम्मा के साथ मैं भी एक-आध बार ममाने गया था। तब वह पैदा ही हुआ था। गोपी अलबत्ता स्कूल में पढ़ने लगा था। बेचारे का अभी दो वर्ष हुए, देहान्त होगया है।

गोकुलचन्द ने आश्चर्य से पूछा—कौन केदार ?

कृष्णगोपाल ने बतलाया—अरे! बरात तो उसी के यहाँ गई थी न? क्योंकि अभी तुमने बतलाया कि·····।

"हाँ-हाँ, समझ गया। आपका मतलब उस लड़के से है, जो लड़की का सगा भाई है।"—गोकुलचन्द ने कहा।

कृष्णगोपाल ने क्षीण हास से कह दिया—समझते तो हो, मगर ज़रा देर से!

"समझता क्या हूँ।···तुम्हारे ये छोटे भाईसाहब तो हैं नये ख़याल के; और मैं ठहरा पक्का सनातनधर्मी। हमारी उसकी पटरी एक साथ कैसे बैठती? वहाँ भी थोड़ा-बहुत बखेड़ा उठ ही खड़ा हुआ। मुझे ही ज़रा दबना पड़ा; क्योंकि छोटे भैया उन लोगों के नेता बन गये। लाख आप उनसे विरोध रखते हैं, लेकिन भाई तो हैं ही। इसीलिए जब जीजाजी ने ही माफ़ी माँगली, तब मुझे भी चुप रह जाना पड़ा। नहीं तो मामला बहुत तूल पकड़ जाता।" गोकुलचन्द ने कृष्ण-गोपाल का आन्तरिक भाव जानने के अभिप्राय के इतना कहा और पास ही पड़े हुए पनडब्बे को उठाकर वह उसे खोलने लगा।

कृष्णगोपाल बोले—पान उसमें रह नहीं गये। अभी मँगवाता हूँ। गोकुल आ जाय।...हाँ, तो कच्चा चिट्ठा कह जाइये। क्योंकि यह मैं जानता हूँ कि उसका नेता बनने का शौक एक दिन उसे बड़े घर की हवा खिलाये बिना न मानेगा।

गोकुलचन्द ने शुरू से लेकर अख़ीर तक सारा हाल कह सुनाया। अन्त में यह भी कहा कि एक दिन कढ़ाई पर भी

उनको बैठना पड़ा था। खौलते हुए घी के छींटे छाती पर जा पड़े; क्योंकि कभी पूड़ी सेंकने का काम तो उसे पड़ा न था।

कृष्णगोपाल सारी बातों को सुनकर बोले—लेकिन हो तुम पूरे बुज़दिल। आख़िर ब्राह्मणपन कैसे जाता ? पूड़ी पक्वान्न और मिठाइयों के लोभ में पड़ गये ! नहीं तो, जहाँ ऐसा अपमान हो, वहाँ एक पल भी ठहरना और उन्हीं लोगों का साथ देना, उनके काम में शामिल होना, कोई भी भला आदमी, जिसे अपनी इज्ज़त का ज़रा भी ख़याल होता, क़तई पसन्द न करता।...काश ऐसे मौक़े पर मैं होता !

"ठीक कहते हो भैया। यही सब सोचकर अब मैं भी पछता रहा हूँ।...लेकिन बच्चू से इसका बदला अगर न लिया, तो मुझे गोकुलचन्द न कहकर मूसलचन्द कहना !"

इसी समय इलायचीजान नीचे उतर आयीं। गोकुलचन्द ने झट से उठकर स्वागत किया ! इलायचीजान बिहँसती हुई बोलीं—आदाबअर्ज़। कल आपके दीदार का नियाज़ हासिल नहीं हुआ ! कहाँ रह गये ?

गोकुलचन्द का मुख इलायचीजान के इन शब्दों को सुनकर ऐसा खिल उठा कि दाँतों के साथ मसूढ़े तक झलकने लगे। बोले—एक रिश्तेदारी में लड़के की शादी थी। उसी में बाहर गया हुआ था। अभी परसों ही तो लौटा हूँ। फिर मुझे यह भी मालूम न हो सका कि आप ख़ुद आ रही हैं; नहीं तो ऐसा

कैसे हो सकता था कि आपके आने की बात सुनता और न आता।

इलायचीजान "तोतेचश्म ऐसे ही होते हैं !"—कहकर विजित कटाक्ष से मुसकराने लगीं।

गोकुलचन्द बोले—इस वक्त आप जो कुछ भी कह डालें, वही थोड़ा है; क्योंकि मुलज़िम की हालत में हूँ!

कृष्णगोपाल अभी तक भीतर-ही-भीतर किसी गहरे स्थल को खोद से रहे थे। गोकुलचन्द के इस जवाब से इतने प्रसन्न हो उठे कि बात की बात में हँसते हुए उछल पड़े! इलायची भी हँस पड़ी। किन्तु हँसकर फिर बिना कुछ कहे वह रह न सकी; क्योंकि गोकुलचन्द ने अभी एक बार कृष्णगोपाल और इलायची को देखा ही था कि उन्होंने सुना—इलायचीजान ने कह दिया—मुबारकबाद!

बहल पर बीबी का ट्रंक पीछे बाँध दिया गया था। बैल नहकर चलने को तैयार थे। उसी समय इलायचीजान ने कृष्णगोपाल के साथ-साथ गोकुलचन्द की ओर कटाक्ष से देखते हुए कहा—इजाज़त है न?

कृष्णगोपाल बोले—इजाज़त अगर इसी का नाम है, तो जरूर है!

बीबी ने कृष्णगोपाल के इस व्यङ्ग्य को उपेक्षा से अनसुना-सा बनाकर कह दिया—आदाब अर्ज़।

उत्तर में कृष्णगोपाल और गोकुलचन्द दोनों ने ज़रा-सा सिर हिला दिया। कृष्णगोपाल ने धीरे से कह दिया—तसलीम।

बहल चलदी, तो दोनों-के-दोनों फिर बैठक में आकर बैठ गये। कृष्णगोपाल अपने पलँग पर और गोकुलचन्द एक अन्य चारपाई पर।

कृष्णगोपाल तकिये के सहारे उढ़कते हुए बोले—तो आप अब चाहते क्या हैं?

गोकुलचन्द ने कहा—मैं क्या चाहता हूँ, यह अब भी आप से छिपा ही रह गया?

"छिपा तो नहीं रह गया, लेकिन आज आप जिस जोश में ये सारी बातें कह रहे हैं, मौक़ा पड़ने पर वह जोश हवा तो न हो जायगा? इसके सिवा ज़रूरत पड़ने पर जो कुछ ख़र्च आ पड़ेगा, उसे भी बरदाश्त ही करना होगा। इन सब बातों को ख़ूब अच्छी तरह से सोच लीजिये।"

कृष्णगोपाल ने इस तरह उत्साहित होकर कहा, मानो उनका अभीष्ट सिद्ध होने का यह एक ऐसा अवसर अचानक हाथ लग रहा है, जिसका ख़ूब सम्हलकर उपयोग करने में ही उसकी चरम तृप्ति है।

गोकुलचन्द बोला—अगर मुझे उस वक्त आपका ऐसा रुख़ किसी भी तरह मिल सकता, तो आज मुझे ज़रा भी पछताना न पड़ता। ख़ैर, अब मैं सोलह आना आपके हाथ में हूँ। मैं वादा करता हूँ कि कभी भी, किसी भी हालत में, मैं आपसे बाहर न

होऊँगा। इसके सिवा अगर इस झगड़े में कुछ खर्च भी आ पड़ेगा, तो उसमें हस्ब-हैसियत हिस्सेदार भी रहूँगा। मैं यह देखना चाहता हूँ कि यहाँ देहात में, मुझे अपमानित करने के बाद, वह किस तरह बाइज्ज़त रहता है!

कृष्णगोपाल बोला—पक्के गवाह पेश कर सको, तो हतक़-इज्ज़ती का दावा फौज़दारी और दीवानी दोनों अदालतों में दायर कर दिया जाय!

कुटिल उत्साह से चमककर गोकुलचन्द बोला—गवाह? हाँ, गवाही मैं एक-से-एक बढ़कर इज्ज़तदार आदमियों की दिला दूँगा।

"तो इस साल के अन्दर ही मियाँजी बड़े घर की हवा भी खाते नज़र आयेंगे!"

कृष्णगोपाल ने ठंढे दिल से कह दिया।

"अच्छी बात है। मैं गवाह ठीक करता हूँ। बात पक्की रही। मारो हाथ!" गोकुलचन्द के कहने के साथ ही कृष्ण-गोपाल ने उसकी हथेली पर अपने हाथ की थाप जमा दी।

[११]

तीन-चार दिन ज्वराक्रान्त रहकर नन्दा किसी तरह उठ बैठी।

आज उसने साबूदाना लिया था। कटोरे-भर में आधा खाकर आधा उसने छोड़ दिया था। पानी पीकर, पान खाकर,

तकिया के सहारे, वह अभी पलँग पर बैठी ही थी कि केदार ने आकर कहा—भौजी, चन्द्रमुखी का पत्र आया है।···यह लो।

यह कहकर लिफ़ाफ़ा उसने नन्दा के सामने फेंक दिया।

नन्दा उत्फुल्ल होकर, मन्द हास से, बोली—क्या लिखा है ?—पढ़ो।

केदार ने लापरवाही दिखलाते हुए कहा—मेरे लिए तो थोड़ा-सा ही लिखा है, लजाते-लजाते। बाक़ी तो सब तुम्हारे लिए ही है, अलग से। मैं उसे क्या पढ़ूँ!

नन्दा समझ गयी कि केदार ख़ुद भी तो कम शरमीला नहीं है। तब लिफ़ाफ़ा उठाती हुई वह बोली—अच्छी बात है, तो मैं ही पढ़ लूँगी।

बहुत फीके हरे रंग के लेटर-पैड का वह एक सुवासित पृष्ठ था; और बिल्कुल उसी रंग का, उसीके उपयुक्त लिफ़ाफ़ा। लिपि का रंग फाउन्टेन-पेन की लिखी हरी स्याही का। लिफ़ाफ़े के भीतर से मुड़े हुए पत्र को निकालने में गुलाब के सौरभ की एक लहर आकर नन्दा की देहयष्टि से लिपटती हुई यत्र-तत्र फैल गयी। उस समय उसके चेतनालोक में, उसके मर्मस्थल को विलोड़ित करती हुई वाणी में, किसी ने कह दिया—हाय रे वैधव्य जीवन!

चन्द्रमुखी के सुहाग और उसके केलि-कौतुकों के प्रति नन्दा के इस शीतल निश्वास में किसी प्रकार का ईर्षानल है? क्या चन्द्रमुखी ने यह पत्र उसे इस प्रकार का मर्मभेदी आघात

पहुँचाने के लिए भेजा है ? तब नन्दा के अन्तस्तल से फूटकर निकला हुआ यह उच्छ्वास क्या अर्थ रखता है, यह जानने के लिए कहीं दूर न जाना होगा; क्योंकि नन्दा स्वतः सोचती है कि यह तो मेरी ही उस बात का उत्तर है—"वहाँ पहुँचकर, तुम्हारे उनके साथ में, मैं भला तुम्हें काहे को याद आऊँगी !" मानो चन्द्रमुखी ने यह पत्र भेजकर, परोक्ष रूप से, यही कहा है कि वहाँ भी मैं तुम्हारी याद कर लेती हूँ।

याद तुम अपनी भौजी की चाहे जितनी कर लो चन्द्रमुखी, लेकिन उसके शीतल निश्वासों में अग्निकाण्ड के-से हाहाकार का जो तुमुल नाद अन्तर्हित है, उसके निवारण की तुम्हारे पास कौन सी युक्ति है—कौन सी अमोघ औषधि ?

चन्द्रमुखी ने लिखा है—

प्यारी भौजी,

मैं यहाँ आकर कई दिनों तक कुछ उद्विग्न-सी रही। किसी भी तरह अपने आपको इस घर के अनुकूल न पा सकी। किन्तु अब मुझे स्पष्ट रूप से यह जान पड़ने लगा है कि सुख नाम की चीज कहीं भी रखी-रखाई नहीं मिला करती। उसकी तो रचना करनी होती है, उसे तो बनाना पड़ता है। जैसे अपनी आत्मा को उसकी रचना में मिलाये बिना वह इच्छानुसार बन ही नहीं सकती। और आत्मा को मिलाने का अर्थ है—कुछ छोड़ना, कुछ त्याग करना। इसीलिए रोज ही अनेक बार तुम्हारी याद कर लेती हूँ भौजी। मैं नहीं जानती, तुम्हारी इस याद में मुझे

क्या मिलता है। तो भी मैं यह कभी-कभी सोच लेती हूँ कि मुझे यह जो कुछ भी मिला है, वह सब है तुम्हारा ही दिया हुआ। अनेक बार मैंने सोचा है, स्थिर कर-करके अपने भीतर जमाया है कि अगर उन थोड़े से दिनों में मुझे तुम न मिलीं होतीं; तो अपने संसार को मैं ऐसा बना सकती, इसमें सन्देह है!

किन्तु इस बात के सोचते-सोचते और भी एक बात मेरे मन में आयी है। पहले कभी उसे सोचने का अवसर आया है, मैं नहीं जानती। लेकिन इतना मैं जानती हूँ कि सोचने के अवसर भले ही न आये हों, किन्तु इस तरह के अनुभव तो हमारे जीवन के निकट सदा ही चक्कर लगाते रहे हैं।

बात यह है कि इतने अल्पकाल में तुमने मुझे जो कुछ दे दिया, उसका भी कारण है। कभी-कभी एक का दुर्भाग्य दूसरे का सौभाग्य बन जाता है। कौन जानता था कि बड़ेभैया को जब तुम किसी तरह भी न पा सकोगी, तब उनका वियोग ही तुम्हें इतना ऊँचा उठा देगा? उन दिनों जो बातें तुम हँसते-हँसाते कह डालती थीं और फिर उन्हीं के सिलसिले में उनसे और भी जो अनेक तरह की धाराएँ फूट निकलती थीं, उस समय मैं उन्हें अनावश्यक समझकर कभी विरक्त हो उठती, कभी लजा जाती थी। किन्तु आज जान पड़ता है कि तुम्हारे दुखी जीवन ने तुम्हें जिस प्रकार का बनाकर बीच धार में छोड़ दिया है, उस समुद्र-मन्थन का सारा-का-सारा अमृत मेरे भाग में आ पड़ा है और विष ही विष तुम्हारे

भाग में। किन्तु उस विष को भी तुमने अपने भीतर धारण करके अपने आपको जो उससे अछूता रख छोड़ा है, यह भी तुम्हारे अभाग्य का परम सौभाग्य ही है भौजी! यह थोड़ा नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि प्रत्येक स्त्री इसकी अधिकारिणी होसके! परन्तु इसी बात को लेकर जब कभी मैं सोचती हूँ कि जो नारी ईर्षा-द्वेष से इतनी दूर हो, करुणा और हृदय की सरल लोभन कोमलता ही जिसकी सच्ची छवि हो, तरुण जीवन की आँधियों में उसके लिए आधार कहाँ है?—तब मारे दुःख के मुझसे रोया तक नहीं जाता! यही सोचती रह जाती हूँ कि जिन्होंने उसे ऐसा बनाया है, उन्हें अपनी इस रचना की भी कुछ लाज तो होगी ही।

यह पत्र जब तुम्हारे पास पहुँचेगा, तब शायद भैया मुझे लेने के लिए आने की तैयारी कर रहे होंगे। इसलिए इसका उत्तर मैं वहीं की वहीं, इकट्ठा, ले लूँगी। तब इस पत्र में और जो कुछ भी पढ़ने की इच्छा तुम्हारे मन में उदित हुई होगी, उसकी भी पूर्ति वहीं हो जायगी।

आशा है, तुम प्रसन्न होओगी।

यह पत्र जब मैंने लिखना शुरू किया था; तब सोचा था, यह एकान्तस्थल है। इतनी जल्दी यहाँ कोई आयेगा नहीं। लेकिन मेरा ऐसा सोचना व्यर्थ गया; क्योंकि वे किसी तरह नहीं माने और इसकी दूसरी ओर उन्होंने भी तुम्हें 'नमस्ते' लिख दिया है।

अधिक मिलने पर।

तुम्हारी अनुरागमयी—

बिटिया

नन्दा जब पत्र पढ़ने लगी थी, तब किसी काम से केदार बाहर चला गया था। चाची निकट बैठी हुई थीं। अतएव चाची को ही सम्बोधित करके उस ने कहा—लो चाची, बिटिया की चिट्ठी भी आगई और अभी तक लल्ला जाने की बात ही सोच रहे हैं!

चाची बोली—क्या लिखा है चिट्ठी में? मुझे भी सुनाओ।

नन्दा ने कहा—अपना दुख-सुख लिखा है चाची। यहाँ से जाने के बाद कुछ दिनों तक बिल्कुल तबियत नहीं लगी। फिर किसी तरह से अपने को समझा-बुझाकर कुछ स्थिर हो पायी हैं बिटिया। लिखा है कि इस चिट्ठी के पहुँचने तक भैया मुझे लिवाने की तैयारी कर ही रहे होंगे, इसलिए इसका उत्तर भेजने की वैसी जरूरत नहीं है।

"चाहे जैसा घर और वर मिले, लेकिन दूसरे के यहाँ जाकर लड़की को पहले-पहल कुछ घबड़ाहट होती ही है बहू! इसमें कुछ भी अचरज नहीं है। मैं जब ब्याह कर आयी थी, तो मुझसे तो हफ्ते भर तक···।"

नन्दा के कानों में जब इस तरह के शब्द यकायक आ पड़ते हैं, तब वह कभी तो ठगी-सी रहकर उन्हें सुनती हुई निस्पन्द, निश्चल हो जाती है और कभी जान-बूझकर इस प्रकार की बातों के स्वर को, कानों के पथ से अपने भीतर प्रवेश करने का ही निरोध करने लगती है। और वह निरोध तब और भी अधिक स्पष्ट रूप से झलक उठता है, जब वह तुरन्त कोई अन्य बात छेड़ देती है।

उस समय भी ऐसा ही हुआ। चाची की बात के क्रम को बीच में ही ज़बरदस्ती भंग करके उसने कह दिया—बस, अब आज ही तैयारी करवा दो चाची। मेरी तबियत भी अच्छी ही है। दौड़-दौड़कर मैं भले ही घर का काम न कर सकूँ, लेकिन एक स्थान पर बैठकर तो मैं सभी कुछ कर लूँगी। कुछ तो मिठाई भेजनी होगी। वह बाज़ार से बनकर आजायगी। रही पकान्न की बात; सो न हो पड़ोस से पड़ाइन-चाची को भी बुला लेना। इस तरह आजकल में सब तैयारी हो जायगी। बिटिया को गये हुए आज दसवाँ दिन है। दो दिन अभी और लगेंगे। इस तरह आते-आते क़रीब-क़रीब दो हफ़्ते हो जायँगे। ब्याह में, पहले-पहल इतना रहना काफ़ी है चाची। तुम तो बापूजी से बोलती हो, उनसे भी पूछ लो न? दरवाज़े पर, कमरे के भीतर ही तो, बैठे हैं।

"उनसे मैं क्या पूछूँ बहू? कभी किसी मामले में वे कोई राय भी देते हैं, जो पूछने जाऊँ। हमेशा वे यही कह देते हैं कि जैसा समझो, वैसा करो, मैं क्या बताऊँ! मुझे अब इस दल-दल में मत ले चलो। अपने ही रास्ते से मुझे चला जाने दो। जो कुछ भी है, जैसा कुछ उन्होंने दिया और रख छोड़ा है, वही बहुत है। उन्हीं की इच्छा की जब सारी बातें हैं, तो उनके बीच में मुझे बोलने की कोई ज़रूरत नहीं है।···न, मैं कुछ नहीं जानता। मुझसे कुछ मत पूछो। सब जिस तरह हो रहा है, वही ठीक है, उचित है।

चाची के द्वारा प्राप्त हुए स्वसुर के ये शब्द नन्दा के हृदय में, एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, व्याप्त हो गये। बार-बार उसके मन में आने लगा—ओह! बापूजी ने कैसी बात कह दी! मानो मेरे ही मन की हो!

बहू को चुप देखकर चाची फिर कहने लगीं—दादाजी का कहना भी ठीक ही है। तीस-बत्तिस बरस की उमर में जीजी का देवलोक हो गया था। उस वक्त बड़ेबेटा छोटे ही थे। शायद पढ़ने लगे थे। और केदार और चन्द्रमुखी, दोनों तो बहुत ही छोटे थे। लेकिन इन्हीं लोगों की ओर देखकर उन्होंने माया से मुँह मोड़कर बच्चों के लालन-पालन और भगवद्-भजन में मन लगाया। फिर बड़ेबेटा भी, तड़ातड़ जवानी में, चल बसे। जान पड़ता है, उसी सोच को न सम्हाल सकने के कारण दादाजी की आँखें जाती रहीं। चन्द्रमुखी ने अपना घर पा ही लिया। रह गये छोटेबेटा, सो वह अभी छोटा है तो क्या हुआ, समझदार तो है। खाने-पहनने को भगवान ने काफ़ी दिया ही है। ऐसी अड़चन ही कौन है, जिसके लिए उन्हें तकलीफ़ देने की जरूरत हो। घर-गृहस्थी के मोह को छोड़कर राम-भजन में लगना ही उनके लिए ठीक है।

इसी समय केदार भीतर आकर कहने लगा—क्या-क्या ले जाना होगा चाची, सो मुझे इसी वक्त बतादो, तो मैं उसकी तैयारी करूँ। आज शुक्रवार है, कल शनिवार को शाम की गाड़ी से मैं चला जाना चाहता हूँ। ठीक है न भौजी?···अरे

झट से जवाब तो दे दिया करो। तुम जब जल्दी जवाब न देकर कुछ सोचने लग जाती हो, तो मुझे हरी भैया की बात याद आ जाती है। उनका कहना है भौजी कि, जो लोग किसी बात का उत्तर देने में देर करके उसे सोचने लगते हैं, मेरे मन में आता है कि मेरा वश चले तो, जैसे भी हो सके वैसे, थोड़ी-सी बुद्धि मैं जबरदस्ती उन्हें उधार दे दूँ।

चाची हँसती हुई बोलीं—वह खुद जैसा अद्भुत है, वैसी ही उसकी बातें भी विचित्र होती हैं। तभी तो उन बातों को सुनकर पहले जितनी हँसी आती है, पीछे उन्हीं बातों के मिस उसकी याद कर-करके उतना ही रंज होता है।

केदार बोला—वाह! कैसी सोलह-आने ठीक बात तुमने कही चाची कि मेरा तो मानो रोआँ-रोआँ खिल उठा। सचमुच हरी भैया ऐसे ही हैं। जितने दिन यहाँ रहे, एक उन्हीं के कारण, इतनी अधिक चहल-पहल रही कि उनके जाने के बाद से ऐसा जान पड़ने लगा है, जैसे वह .खुद तो गया ही है साथ-ही-साथ अपने उस एक बार दिये हुए आनन्द को भी फिर वापस लेता गया है।

चाची और केदार की ये बातें नन्दा को कैसी प्यारी लग रही हैं, दोनों में से कोई जान न सका। नन्दा .खुद भी जान सकी कि नहीं, कौन जाने! क्योंकि इसके बाद ही उसने कहा—लेकिन तुमसे इतना भी तो न हो सका लल्ला कि अपने

उन भैया हरी को एक पत्र ही लिख देते। यही पूछ लेते कि वहाँ पहुँचने पर कोई ख़ास बात तो नहीं हुई; क्योंकि बुआजी अपने बड़ेबेटा की याद कर-करके ही ज्यादा घबड़ाती थीं। आपस में बड़ा बैर-विरोध जो चल रहा है।

"हाँ भौजी, यह तुमने ठीक बात कही। सचमुच, बुआ को एक पत्र तो ज़रूर लिखना चाहिये था। साथ ही उसमें यह भी लिख देता कि चन्द्रमुखी के ब्याह में, काम-काज की भीड़ में, हम लोग रात-दिन ऐसे लगे रहे थे कि ज्यादा साथ बैठने उठने का अवसर ही न मिला। अब जो दो-चार दिन के लिए आ जाओ, तो कुछ मज़ा भी आये।...लेकिन फिर वीरेन्द्र के बिना हमारा गुट ही न पूरा होगा। तब उसको भी बुलाना चाहिये।"—ज्योंही केदार ने कुछ चिन्तित-सा होकर कहा, त्यों ही चाची हँसते-हँसते कहने लगीं—तो फिर अच्छा तो यह होगा कि अपना ब्याह ही न झटपट कर डाल बेटा—सब लोगों के बुलाने का उससे अधिक अच्छा मौक़ा और क्या हो सकेगा?

केदार बोला—न चाची, ब्याह मैं इस तरह न करूँगा। जिस तरह का ब्याह आजकल होता है, मुझे उससे सख्त नफ़रत है। लेकिन मैं अकेला कर ही क्या सकता हूँ। यह भी कोई ब्याह है कि जिनका उससे सब से ज्यादा सम्बन्ध हो, वे पति-पत्नी ख़ुद भी न तो एक-दूसरे से मिलने का अवसर पायें—न कोई किसी के स्वभाव और जीवन का परिचय ही पा सके। नतीजा यह होता है कि जब हम अपने हाथ कटा बैठते हैं, तब

हमें मालूम होता कि एक की प्रकृति के साथ दूसरे का मेल हो ही नहीं सकता। उस समय वह ब्याह, ब्याह न होकर, एक-दूसरे के गले की फाँसी हो जाती है !

"लेकिन लल्ला, यह तो बताओ" नन्दा कहने लगी—"ब्याह के पहले ही एक-दूसरे के स्वभाव और जीवन का परिचय पा लेने में, दोनों के मेल से, जब कभी कोई अपनी सभ्यता की मर्यादा भंग कर बैठेगा, तब उसकी जिम्मेदारी किसके ऊपर होगी ? तब उस दशा में यदि एक ओर नारी का सर्वस्व-परिचय प्राप्त कर लेने के बाद तुम कह दोगे कि मुझे तो यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं है, तो वह अबला, वह उच्छिष्ट-सी, अपदार्थ-सी, अंगना किसी अंध-कूप में गिरकर अपना प्राण-विसर्जन करने के सिवा और कहाँ, क्या, आधार पायेगी ? आज भी तो जो लोग लड़की देख-देखकर विवाह करते हैं, उनमें से जब कोई कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि वह सम्बन्ध फिर स्थिर नहीं रहता, तब वर पक्षवालों का तो कुछ नहीं बिगड़ता, लेकिन कन्या-पक्ष की कितनी अधिक अप्रतिष्ठा हो जाती है—कितना विद्रोह इस प्रथा के प्रति उनमें भर जाता है, कभी तुमने सोचकर देखा है ? तुमने जिन लोगों को देखकर यह बात सीखी है कि ब्याह से पहले एक-दूसरे से मिल-जुल लेना बड़ा अच्छा होता है, उन लोगों की कैसी सभ्यता है, यह भी तो तुमको मालूम ही है। उस समाज में स्त्री का क्या स्थान है, कभी तुमने इस बात पर भी कभी विचार किया है ?"

आज केदार ने पहली बार समझ पाया है कि उसकी भौजी क्या है और वह उसे जो अभी तक साधारण स्त्री ही समझ बैठा था, यह उसकी भूल थी। आज उसे पता चला है कि अपने घर में ही वह ऐसी स्त्री प्राप्त किये बैठा है, जिसमें उसकी वेगवती विचार-धारा को प्रशांत कर डालने तक की सामर्थ्य और योग्यता है। तब अपनी उस भौजी के वय और उसके विचारों की थाह को लेकर वह एक ओर जितना प्रसन्न हुआ, दूसरी ओर भविष्य की बात सोचते हुए उसे चिन्ता और दुःख भी कम नहीं हुआ। तब बार-बार उसके ध्यान में आने लगा कि इस नये युग के युवकों में भी समाज में क्रान्ति उत्पन्न करने की भावना तो काम करती है, पर यदि अवसर आने पर उनसे कहा जाता है—तो फिर किसी विधवा से विवाह क्यों नहीं कर लेते, तो वे बगलें झांकने लगते हैं !···साथ ही वह अपने तईं भी सोचने लगा कि यदि कोई मुझसे ही इस तरह का प्रस्ताव करे तो मुझे कितना बुरा लगेगा ! मैं भी तो उसे कभी पसन्द न करूँगा। आघ्रात कुसुमों की माला पहनना सचमुच मुझे भी स्वीकार न होगा।···न भाई, तब तो अपनी प्रचलित प्रथा ही मुझे ठीक जान पड़ती है।

केदार अग्रसोची नहीं है। वह .खुद भी अपने सम्बन्ध में जानता है कि वह मध्यम श्रेणी का विचारक है। आगे-आगे तो वह कभी चल ही नहीं सकता। बल्कि पीछे-पीछे चलने में भी कभी-कभी वह ठिठक जाता है। इसीलिए अपनी भौजी

की इस बात का अन्य कोई उत्तर न देकर उसने कह दिया—मैंने तो सचमुच इन सब बातों पर इस ढंग से कभी नहीं सोचा। लेकिन मुझे जान पड़ता है—मेरे हरी भैया ने इन सब बातों पर भी विचार किया है। उनसे पूछकर मैं तुम्हारी इन सब बातों का जवाब दूँगा।···अरे ! काम की बातें तो रह ही गयीं। बतलाओ न भौजी, जिस-जिस सामान के लाने की ज़रूरत हो, बतलाओ, तो मँगवा लूँ। जो कुछ भी करना-धरना या बनाना हो, चटपट कर-धर डालो। मैं कल ही शाम को चला जाना चाहता हूँ। बतलाओ चाची, तुम्हीं बतलाओ।

चाची बोलीं—लाने को क्या है ? घी, चीनी, मसाला सब चीजें हैं ही, बेसन कम पड़ेगा। पाँच सेर मँगवा लो। खोवे की मिठाई बाज़ार से ले लेना।

नन्दा ने भी कह दिया—हाँ लल्ला, चाची ने जो बतलाया वही ठीक है।

तब केदार बाहर चल दिया और नन्दा चन्द्रमुखी के पत्र की इन पंक्तियों को फिर पढ़ने लगी—"करुणा और हृदय की सरल लोभन कोमलता ही जिसकी सच्ची छवि हो, तरुण जीवन की आँधियों में उसके लिए आधार कहाँ है ?' और तब साथ ही केदार के अभी हाल के कहे ये शब्द भी उसके हृदय को मथने लगे कि "मेरे हरी भैया ने इन सब बातों पर भी विचार किया है।"

किसकी, कौन बात, किस प्रसंग से, कहाँ-कहाँ जाकर उदय होती है, कौन जानता है ? आज नन्दा के लिए इस समय ज्ञातव्य है कि उसके हरी ने इन सब बातों पर अगर विचार किया हो है, तो आखिर वह है क्या ? मैं भी तो ज़रा सुनूँ ! लेकिन क्या वह जानती नहीं है कि हरी के विचारों का प्रतिविम्ब उसके कथन में कितना स्पष्ट, कैसे साकार रूप में, झलक चुका है ! अपने विचारों को लेकर क्या उसे फिर कोई नयी बात भी कहनी है ? नन्दा यह सब भी सोचने लगी। बार-बार उसे हरी के वे शब्द याद आने लगे—"तो भी मुझे कहने दो भौजी कि जन्म-जन्मान्तर के लिए मैं तुम्हारा ही हूँ.....!"

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हरी ने क्या सोचा था; और फिर क्या कह डाला था। क्या कहकर, क्या कहना उसने छोड़ दिया था और क्या-क्या न कहकर, उसने क्या-क्या कह डाला था। मान लो कि जो कुछ उसने कह दिया था, उसे न कहकर वह वही बात कह देता, जो पहले पहल उसके भीतर उन्मथित हो-होकर उठी थी, तो ?...वह बात—हाँ वह बात है—

"कौन कहता है—तुम विधवा हो ? कौन कहता है कि तुम्हारा विवाह हुआ था या तुमने 'पति' नाम की किसी वस्तु को प्राप्त किया था ? वह तो एक खेल था; पुरुषों का नहीं, बच्चों का भी नहीं, उस अन्धे समाज का, हिन्दू जाति की अधोगति के कंकाल का, जिसे नष्ट ही होना है, जिसका नाश ही अभीष्ट है !

काश उस वक्त नन्दा भी हरी की इस अकथित बात को जान सकती !

[१२]

केदार चन्द्रमुखी की विदा कराके उसे लिवा तो लाया, किन्तु चन्द्रमुखी अपनी भौजी नन्दा के साथ अधिक काल तक रह न सकी; क्योंकि महीने-भर के बाद ही बनवारी भी नन्दा की बिदा करवाकर उसे घर ले आया।

अब चन्द्रमुखी फिर अकेली हुई जारही थी, इसलिए नन्दा की सलाह से केदार ने हरिचन्द काका को भी अपने साथ रखना स्वीकार कर लिया। इस तरह चन्द्रमुखी के लिए चाची एक बड़ा आधार बन गयीं।

गिरधारीलाल और बनवारीलाल में मन-मुटाव किसी ख़ास बात पर न था। असल में बात यह थी कि गिरधारीलाल की स्त्री दूसरी थीं और वे स्वभाव की इतनी चिड़-चिड़ी थीं कि देवर और देवरानी से उसकी बातें सहन नहीं होती थीं। इसके सिवा गिरधारीलाल खुद उनसे कुछ दबते-से थे। जब बड़ी बहू की भौंहें चढ़ जातीं और उनके शब्दों में ईर्षा-द्वेष, कुटिल आतंक और हठ के मिश्रित भावों की चिनगारियाँ निकलने लगतीं, तो गिरधारीलाल मौन रह जाते थे। ऐसी बात न थी कि उस समय वे कुछ कहना नहीं चाहते थे, अथवा खल-नायिका-का-सा नाट्य-नैपुण्य उन्हें विमोहित कर लेता था! वरन् उस दशा में उनसे कुछ कहते न बनता था।

नन्दा चाहती तो बड़ीभौजी के साथ न रहकर छोटी भौजी के साथ भी रह सकती थी। छोटीभौजी उसे चाहती थी। लेकिन उसके सामने एक असुविधा यह थी कि रुपया-पैसा जो-कुछ था, वह तो बड़ेभैया के ही हाथ में था। छोटेभैया मकान आदि बनवाने में जो रुपया लगा रहे थे, उसमें कमी पड़ने पर कुछ उन्हें कर्ज़ में भी लेना पड़ा था। रियासत का बटवारा करवा लेने की विधिवत् अदालती कार्यवाही वे कर रहे थे, तो भी रुपये की कमी को लेकर आगे की चिन्ता उन्हें बनी ही रहती थी। इसके सिवा नन्दा के विवाह आदि का व्यय जब सम्मिलित रूप से हुआ था और तब उसके रहने का खर्च भी सम्मिलित रूप से ही होना चाहिये था। इसी विचार से अतीव कष्ट सहते हुए भी नन्दा अपने बड़ेभैया के साथ ही रहने के लिए विवश थी।

यह सब कुछ था, फिर भी नन्दा रोज़ ही अपनी छोटीभौजी के घर जाती और वहाँ घंटों ठहरा करती थी। इस सम्बन्ध में बड़ीभौजी का उससे कोई विरोध न था। वरन् जितनी देर वह घर से बाहर रहती, उतनी देर, आज़ादी के ख़याल से, बड़ीबहू कुछ अधिक सुखी ही रहती थीं। इसका एक ज़बरदस्त कारण यह था कि तब उसके गिरधारी-बाबू घर के भीतर बैठने-उठने का अवकाश अधिक पाते थे। और इस विषय में उस युगल जोड़ी में, किसी प्रकार का, कोई मतभेद न था।

सावन के सोमवार का दिन था। बादल घिरे हुए थे और

हवा बहुत तेज़ हो चली थी। पानी बरसने में कुछ ही विलम्ब देख पड़ता था।

छोटीबहू के पास बैठी हुई नन्दा बोली—अब चलूँगी भौजी, पानी आ रहा है। फिर जाने में क्या जाने कितनी देर लग जाय।

छोटीबहू ने उठती हुई नन्दा के अञ्चल को पकड़कर उत्तर दिया—अब तो पानी आ ही गया बिट्टी, ज़रा देर और बैठ लो। निकल जाय तो जाना। कहीं बीच में ही बरसने लगा, तो भीग न जाओगी!

नन्दा बोली—अभी इतनी जल्दी न बरसेगा भौजी। अब चलने दो!

इसी समय बनवारी जो वहाँ आ पहुँचा, तो छोटीबहू ने घूँघट काढ़ लिया। पास ही खड़े होकर बनवारी ने पूछा—कुबेर-पुर में कोई हरिनाम दुवे रहते हैं। ख़ूब लम्बे, नयी उमर के आदमी हैं। पक्का गेहुंआँ रंग है।

बात की बात में नन्दा कुछ और हो गई। प्रशान्त सरोवर में जैसे एक तृण मात्र छोड़ देने से अनन्त तरंगावलि आप-से-आप अनुधावित हो उठती हैं, उस समय नन्दा के अतलस्पर्शी हृत्पिण्ड से लेकर उसका रोम-रोम तक उस एक 'हरिनाम' शब्द से उसी भाँति तरंगित हो उठा। बैठकर अवनत दृष्टि से, मृदुल मन्द स्वर में, उसने बनवारी को सुनाकर कह दिया—वे (मेरे) देवर लगते हैं; बुआजी के लड़के हैं।

बनवारीलाल ने बहिन के भाव और कथन को ग्रहण करते हुए पूछा—वे आये हुए हैं। उन्हें कहाँ ठहराया जायगा ?

छोटीबहू ने कहा—और कहाँ ठहराओगे ? दादाजी के यहाँ भेज दो, साथ में किसी आदमी को कर दो। क्यों बिट्टी, वहीं ठहराना ठीक होगा न ?

नन्दा बोली—जैसा समझो।

छोटीबहू ननँद के इस उत्तर के उच्चारण मात्र से समझ गयीं कि वह इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ती, तब उसने कहा—अगर समझो कि उनके यहाँ पूरा स्वागत-सत्कार और आराम मिलने में कोई अड़चन होगी, तो अपने ही यहाँ ठहरा लो, या फिर जैसा ठीक समझो।

छोटीबहू का इतना कहना था कि पट-पट शब्दों को लेकर तुरन्त पानी बरसने लगा। इसलिए फिर बनवारी बोला—हर्ज़ ही क्या है ? यहीं ठहराये लेता हूँ। बरसते पानी में, ऐसे कुसमय में, वहाँ कैसे भेजूँ ?"—और बाहर चला गया।

फाटक के भीतर मकान से लगे कमरे में ही बनवारी ने हरी को ठहराने की व्यवस्था की।

पलँग के उपर दरी, फिर सफ़ेद चद्दर बिछाकर, दो तकिये भी जब सिरहाने रख दिये गये, तो बनवारी ने बाहरी बैठक में जाकर हरी के पैर छूकर उससे कहा—माफ़ कीजियेगा, पहले पहचाना नहीं था, इसी से... ।.....चलिये उधर, भीतर निकल चलिये।

छाता तानकर हरी, आगे-आगे चलकर, बाहरी आँगन पार करता हुआ, बनवारी के संकेतानुसार, मकान से लगे कमरे में जाकर बिछे पलँग पर बैठ गया। टोपी उसने अलमारी में रख दी और कोट उतारकर खूँटी पर टाँग दिया।

अब बनवारी ने फिर बाहर जाकर अपने नौकर उजागर से कहा—भैया से जाकर कहो—नन्दा के देवर आये हैं और पानी बरसने में भीग जाने के विचार से वहीं ठहर गये हैं। उनके लिए खाना बनवाने का प्रबन्ध करें।

प्रकट में उजागर से इतना कहकर बनवारी भीतर अपने आप इतना और भी कहता चला गया—जो पाप किये हैं, बिना भोगे तो उनसे छुटकारा मिलेगा नहीं! नहीं तो क्या मैं इनका स्वागत-सत्कार न कर सकता था?

उधर पलँग पर बैठा हुआ हरी यह सोचने में लगा था कि यहाँ भी वही राग छिड़ा हुआ है! दो सगे भाई भी आपस में मिलकर रह नहीं सकते! व्यक्तिगत वैभव-वृद्धि की प्रतिस्पर्द्धा जहाँ इस हद तक पहुँच चुकी हो कि एक भाई दूसरे के मुँह का कौर तक छीनने और हड़प जाने को तैयार हो, जहाँ विषयासक्त पुरुष लुगाइयों के हाथ की कठपुतली बनकर भातृत्व के विनाश में ही अपनी चरम उन्नति देख रहे हों, वहाँ—गाँवों के हमारे आजकल के ऐसे पतित जीवन में, जहाँ एक टुकड़े पर दर्जनों कुत्तों के भौंकने-चिल्लाने का सा पाशविक दृश्य रात-दिन

उपस्थित रहता हो, वहाँ—किसी प्रकार के सुधार और उत्कर्ष की क्या आशा की जाय ?

इसी समय बनवारी ने एक कटोरे में कुछ मीठा और उजागर ने पानी भरा एक लोटा तथा गिलास लाकर पास ही रख दिया। तदनन्तर बनवारी अलमारी में रक्खे हुए बटुए को उठाकर सुपारी कतरते हुए बोला—आप तो बहिन के ब्याह में आये थे न ?

हरी विनोद की मुद्रा में जलपान का प्रारम्भ करते हुए बोला—आपको कैसा जान पड़ता है ?

बनवारी ने उत्तर दिया—मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आप आये थे।

"आपका ऐसा समझना ठीक है। लेकिन तब तक तो यह मकान बना नहीं था।"—हरी ने कहा।

उदास भाव से बनवारी बोला—तब बात ही और थी। पिताजी बने थे और हम लोगों में ऐसा अलगाव भी नहीं हुआ था।

हरी ने कहा—हाँ, यह बात मैं भी समझ रहा हूँ।

अब बनवारी ने तुरन्त पूछ दिया—सो कैसे ? आप तो अभी आ ही रहे हैं। इतनी ही देर में आप यह बात कैसे समझ गये ?

"कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है। जो बात हम किसी से पूछने नहीं बैठते, जिसकी आशंका भी हमारे मन में उत्पन्न

नहीं होती, अनायास ही ऐसी बात भी हमारे कानों में पड़ ही जाती है। गाँव के बाहर ही से जब इधर आने के लिए बढ़ने लगा, तो कुछ लोगों ने पूछ दिया—कहाँ जाइयेगा बाबू साहब? उत्तर में मैंने जब निरंजन बाबू का नाम लिया, तो उन्होंने रास्ता बतलाते हुए यह भी कह दिया कि इधर से निकल जाइये। पहले छोटेभैया का मकान मिलेगा, इसके बाद उधर बड़ेभैया का। दोनों अलग हो गये हैं। निरंजन बाबू तो अब रहे नहीं। उनको मरे तो दो-ढाई-वर्ष हो रहे हैं!" हरी ने कहा।

बनवारी ने पान लगाते हुए कहा—तो आपको पहले ही सब हाल मिल गया।

हरी ने अब गम्भीर होकर कहा—घर-घर यही राग है भाई साहब। मैं ही आज इटावे से लौट रहा हूँ। चचेरा भाई वहाँ पढ़ता है। बड़े भाई साहब उसे ख़र्च ही नहीं भेजते। घर की जो जायदाद है, उस पर क़र्ज़ ले-लेकर दुर्व्यसनों में समाप्त किये डालते हैं। अगर वह घर में आकर झगड़ा-बखेड़ा खड़ा करता है, तो उसका पढ़ना छूटता है। अभी तक इधर छै महीने से मैं ही उसे ख़र्च भेज रहा था। अब जबसे उसकी ओर से रियासत को कोर्ट-आफ़-वार्ड के हाथों दे देने की दरख़्वास्त दी गई है, तब से भाईसाहब लोगों से कहते-फिरते हैं कि यह सब हरी करवा रहा है।...यों भी मुझसे तनातनी चल रही थी, और अब तो होनी ही चाहिये।

हरी मीठा खाकर पानी पी चुका था। बनवारी ने इसी समय पान भी दे दिया।

पान मुँह में दबाकर हरी ने फिर पूर्वकथित बात के सिलसिले में कहा—इसका कारण कुछ तो हमारी अशिक्षा है और कुछ हमारे दूषित संस्कार। आज हमारे घरों के भीतर स्त्रियों में परस्पर जो युद्ध चला करता है और हम लोग .खुद भी जो उसी को प्रधानता देकर अपने ही आत्मीय को अपना शत्रु बना लेते हैं, यह सब हमारी अशिक्षा और इधर हाल के पिछले ज़माने से चले आ रहे कुसंस्कारों का ही कुफल है। तभी तो हममें नब्बे फ़ीसदी पुरुष ऐसे मिलते हैं, जो या तो अपने आपको सोलह आना अपढ़-कुपढ़ स्त्रियों के हाथों में सौंप देते हैं, या फिर सुयोग्य, सभ्य और शिक्षित स्त्रियों को भी अपने पैरों की जूती बनाकर रखते हैं। निजी स्वार्थों का लोभ हममें इतना घर कर गया है कि हर आदमी के साथ भाई का-सा व्यवहार करने की बात स्वप्नवत् होती जा रही है और हम अपने बन्धुओं तक को शत्रु समझ बैठे हैं! मुग़ल बादशाहत ने हमारे सामने यही आदर्श रक्खा और ब्रिटिश राजनीति और सभ्यता तो इस सम्बन्ध में हमें और भी अधिक पतन के गहरे गड्ढे की ओर ले जा रही है। ऐसा जान पड़ रहा है कि सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा का हमारे देश में एक स्वप्न-मात्र रह जायगा!

अँधेरा बढ़ने लगा था। बनवारी ने बाहरी बैठक में आकर देखा कि उजागर बैठा लालटेन साफ़ करके जलाने की तैयारी

कर रहा है तो वह हथेली पर तम्बाकू मलता हुआ फिर हरी के निकट आकर बैठ गया।

ऊपर से देखने को बनवारी अपने बड़े भाई को लेकर लड़ाकू है, लेकिन उसके भीतर कितनी अग्नि धधका करती है, कौन जानता है ? जब से वह इस नये मकान में आगया है और बटवारा कराने की कोशिश में लगा है, तब से पता नहीं, कितनी बार वह निरंजन बाबू की याद कर-करके रोया है ! भाई के प्रति भी उसके मन में कोई दुर्भाव नहीं है। वह मानता है कि वे स्वभाव के स्नेहशील और सरल हैं। किन्तु भौजी साहबा के उग्र स्वभाव और व्यवहार से तंग आकर वह अलग हुआ है। इस तरह जहाँ उसके हृदय में एक ओर बड़े भाई के लिए श्रद्धा है, वहाँ दूसरी ओर भौजाई के लिये घृणा। और चूँकि भाई ने अपनी इस नवभार्या को पाकर अपने अस्तित्व को खो दिया है, इसीलिए उसका मन उनके प्रति विद्रोही हो उठा है। किन्तु नन्दा के देवर ने इसी विषय को लेकर आज ये क्या बातें कह डाली हैं, जो घूम-फिर कर, उन्हीं में का कोई-न-कोई अवयव बनवारी के भीतर हुलस-हुलस कर उत्थित हो उठता है !

उजागर लालटेन जलाकर ले आया। बनवारी के संकेत से उसने उसे हरी के निकट ही, आलमारी के तख्ते पर, रख दिया। वह खुद भी अलग देहली पर बैठ गया।

बनवारी बोला—आपने जो बात कही, वह तो .खैर ठीक ही है ! उसमें तो कोई बेजा बात मुझे नहीं जान पड़ी, लेकिन

आपकी इन बातों से सार क्या निकला, यह मेरी समझ में नहीं आया।

"सार मैं कैसे निकाल सकता हूँ? मैं ख़ुद भी तो उसी दल-दल में फँसा हुआ हूँ। न्याय के लिए मर मिटना ही हमारा पुरातन आदर्श रहा है। उसी पर क़ायम रहने का एक मात्र रास्ता हम सब लोगों के सामने है। खुद मेरे गाँव में ही ऐसी बिकट दलबन्दी चल रही है कि किसी दिन भी फ़ौजदारी हो सकती है। जहाँ तक मुझसे हो सकता है; मैं लोगों को शान्त रखने की चेष्टा करता हूँ। किन्तु मैं क्या करूँ, मैं ख़ुद भी इसी विश्वास का आदमी हूँ कि किसी के भी अन्याय के प्रति पैदा हुई समूहगत उत्तेजना को निरन्तर दबाते रहना, उसकी उस स्वाभाविक वीरता और साहस की भावना को नष्ट करना है, जो समाज के संगठन का प्राण है—उसकी जीवनी-शक्ति का स्वरूप। मैं ख़ुद भी अन्याय के प्रति विद्रोह और लड़ाई का पक्षपाती हूँ। अन्याय को सहन न करके जो जाति मर मिटती है, मैं नहीं मानता कि कभी उसका विनाश होना सम्भव है। मैं एकता को मानता हूँ, लेकिन न्याय का ख़ून करनेवाली एकता को मैं नहीं मानता; क्योंकि मैं समझता हूँ कि वह झूठी है। वह आज अगर है भी, तो कल के लिए नहीं रहेगी। मैं वतमान को न देखकर, भविष्य को देखता हूँ। मैं आज के विद्रोह को इसलिए स्वीकार करता हूँ कि वह कल के सहयोग को जन्म देता है। मैं आज के उस सहयोग से नफ़रत करता हूँ जो

कल के असहयोग को नेवता देता है।" हरी ने अपने इस कथन का ऐसी गम्भीरता के साथ निर्वाह किया कि बनवारी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। वह बोला—आपकी बातें बड़ी मार्के की होती हैं। मुझे नेताओं के भाषणों के सुनने में भी वह आनन्द नहीं आया, जो आज आपकी इस मामूली बातचीत में आगया! मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आज आपने यहाँ पधारने की कृपा की।...अब आप आराम कीजिये। थके होंगे आप। उजगरा, ज़रा बेनी नाई को तो बुला दे, बाबू के पैर दाब जाय।

× × ×

बड़ीबहू ने जब कहला दिया कि देवर के यहाँ जब दुबेजी ठहर ही गये हैं, तो अब वही उनको क्यों नहीं खिलाते-पिलाते? क्या वे उनके रिश्तेदार नहीं हैं? मेरे घर आते, ठहरते, तो मेरे सिर-माथे थे।—तब बनवारी ने ही उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था की। उस समय एक बार बनवारी के मन में आया भी कि अब भी दुबेजी को वहीं भेज देना ठीक होगा, पर कुछ सोच-विचारकर उसने फिर ऐसा करना उचित नहीं समझा।

खाना तो छोटीबहू ने बना दिया, लेकिन हरी के निकट बैठकर उस पर पंखा झलती हुई उसे खिलाने बैठी नन्दा। तब हरी को ऐसा जान पड़ा, जैसे इसी क्षण के लिए उसके जीवन का अर्थ है और इसी अर्थ को लेकर उसका जीवन। कौर तोड़ता हुआ वह प्रायः हरएक बार नन्दा को देख लेता है। अपनी उस दृष्टि में ही वह अपने भीतर के समस्त संचित प्यार को, कभी जगाकर

और कभी सोता हुआ रहने देकर, एक साथ अर्पित कर देता है। कुछ बोलना नहीं। बोलने को क्या उसके पास कुछ है नहीं? रत्नाकर के चिर जाग्रत स्वर की भांति मुखरित उसका जो मानस है, उसके तरंग-रूप में वह बोलना चाहे, तो उसे मौन रहने की कभी आवश्यकता ही न पड़े। लेकिन कठिनाई यह है कि उसके जीवन के अर्थ में मिलकर उसकी वाणी भी आज के इस क्षण में मूक हो गई है।

पतले बाँस की नली के भीतर से घूमते हुए पंखे का मन्द स्वर है और बरसते हुए पानी के छींटों से उत्पन्न रिमझिम। सामने थाली में रक्खी हुई गरम कचौड़ियाँ हैं; कई तरह के अचार और शाक। मलाईदार मीठे गरम दूध से भरा हुआ कांस का बेला। तब एक बार सारे सामान को देखकर हरी के मन में आया कि वह इतना खा भी सकेगा?

इसी समय मदिर उल्लास के झकोर में नन्दा बोली—कैसे इधर भूल पड़े?

"इटावा से लौट रहा था। लारी से जाता हुआ, जब सड़क पर, इस गाँव के सामने आगया, तो किसी प्रकार अपने को स्थिर न रख सका। सोचा, तुमसे मिलता चलूँ। पर यहाँ आकर बराबर यही सोच रहा हूँ कि सचमुच मैंने भूल की है!" हरी ने थाली की ओर ही दृष्टि रखकर ऐसे विमनस्क भाव से कहा कि नन्दा उसकी ओर देखती हुई यकायक उन्मथित हो उठी।

"कौन जाने, तुमने भूल की है कि नहीं। लेकिन माना कि अगर की भी है, तो इतनी ही कि एक बार उसी को देखने के लिये आ पहुँचे हो, जिसको देखकर आज अब सोचते हो कि उसका न देखना ही उचित था। पर इस समय के इस सोचने से पहले ही जो बातें बिना सोचे कर चुके हो, उसी को भूलकर क्या तुम समझते हो कि यह नयी भूल तुम्हें भुलावे में न डालेगी?" नन्दा कह सकती, तो कहती, पर क्या जाने क्यों इन वाक्यों को लेकर उसका कण्ठ फूट न सका। पलक मारते-मारते उसकी मुद्रा ऐसी विचित्र हो उठी कि आँखों और होठों के साथ लेकर उसकी श्वास तक मर्यादित न रह सकी। हरी की दृष्टि बचाने का अवसर पाते ही उसने आँखों के आगे निकल आये हुए अमृत-बूँदों को अपने अञ्चल में ही ग्रहण कर लिया।

थोड़ी देर मौन रहकर नन्दा ने फिर पूछा—बुआजी तो अच्छी तरह से हैं? बड़ेबेटा के उपद्रवों की याद कर-करके बहुत घबड़ाया करती थीं। सो वैसी कोई गड़बड़ी तो नहीं हुई?

"क्या बताऊँ भौजी, बहुत-सी ऐसी बातें उठ खड़ी हुई हैं कि किसी न किसी अनिष्ट की आशंका से मेरे सामने कभी-कभी भयानक अन्धकार छा जाता है! फिर यही सोचकर संतोष कर लेता हूँ कि जब तक जिन्दगी है, तब तक उसके साथ लगे हुए कर्तव्य और धर्म का निर्वाह तो करना ही होगा। फल चाहे जो हो।"

हरी की इस बात के उत्तर में नन्दा पहले तो कुछ कह न सकी; परन्तु जब उसे उसकी रुद्ध चेष्टा में प्रच्छन्न पीड़ा का उद्दाम आवेग स्पष्ट देख पड़ा, तो उसने पूछा—सुनती हूँ, तुमने ब्याह न करने की प्रतिज्ञा कर रक्खी है। क्या यह बात सच है ?

उठते हुए हाथ के कौर को रोककर हरी ने सिर उठाते हुए एकबार फिर नन्दा की आँखों में अपनी आँखें भरकर कहा—यह तुमसे किसने कहा ?

नन्दा ने लक्ष किया, हरी उसके इस प्रश्न से एक दम से जैसे चौंक पड़ा हो ! यकायक उसकी चेष्टा में मानो अदम्य विस्मय सन्निविष्ट हो गया हो ! फिर भी उसने संयत भाव से कहा—लल्ला के मुँह से सुना था।

हरी को स्मरण हो आया कि वास्तव में एक दिन वार्तालाप में उसने केदार से इसी प्रकार की कोई बात कही थी। तब उस कौर को ग्रहण करने के बाद उसने तुरन्त कहा—हाँ, इसी तरह की कोई बात मैंने केदार से कही थी। लेकिन जान पड़ता है, न तो मैं ही ठीक तरह से उसे उस बात को समझा सका और न वही उसे ठीक तौर से समझ पाया। असल बात कुछ और है।

"वही असल बात तो मैं जानना चाहती हूँ।"—नन्दा ने उत्सुकतापूर्वक कहा।

"जिस बात को अभी तक खुलकर मैं किसी से नहीं कह सका—पिता से भी नहीं, जिनकी अन्तिम आज्ञा का निरादर

करने के कारण मैं आज तक पछताया करता हूँ, वही बात तुम पूछ रही हो भौजी।"—हरी कहकर फिर चुप हो रहा।

थाली में जितनी कचौड़ियाँ नन्दा ने परोसी थीं, उसमें अब आधी हो रह गयी थी, तब झट से लपककर उसने दो पूरी उस थाली में और रख दीं।

यकायक थाली में इस नये व्यापार के घटित होते ही हरी के मुँह से निकल गया—अरे! मैं तो पूरा भोजन कर चुका। अब ये पूरियाँ इसमें पड़ी रह जायँगी।

अपने स्वाभाविक, सरल, स्नेह-विकसित मृदुल स्वर में नन्दा ने कहा—पड़ी कैसे रह जायँगी? मेरा संकेत पाकर संसार में कौन सा ऐसा काम है, जो तुम कर नहीं सकते?—तुम्हीं ने तो एक दिन कहा था। याद है?

"याद है भौजी। और भी बहुत-सी बातें याद हैं। लेकिन क्या उन बातों को भुलाया नहीं जा सकता? हरएक आदमी से ग़लतियाँ हो जाया करती हैं। मुझसे भी हो सकती हैं। लेकिन जान-बूझ कर...। ख़ैर, और अधिक कहने की ज़रूरत ही क्या है?"

निमेष मात्र में हरी के इस कथन से नन्दा का मुख इतना लाल हो गया कि उस इतराती हुई वर्षा के रिमझिम, चमकती बिजली और उस घनघोर निर्घोष में, उसकी उद्दीप्त कान्ति देखने में, हरी को किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करनी पड़ी।

इसी समय हरी ने सुना, उसकी भौजी कह रही है—वह ज़रूरत है कि नहीं, यह तो मैं नहीं जानतीं; लेकिन इतना जानती हूँ कि जो लोग आज एक बात को ज्ञान या अज्ञान में, सोच-समझ कर या बिना सोचे हुए ही, कर डालते और कल उसे 'भूल' कह कर अलग जा खड़े होते हैं, वे यह बिल्कुल नहीं सोचते कि उनके इस अनिश्चित स्वरूप के कारण कितनी निर्मल और निर्दोष भावनाओं की हत्या हो जाया करती है!

आज अब इस क्षण में, हरी ने जाना है कि वह कहाँ है। अब उसे प्रतीत हुआ है कि वह अपने मन में चाहे जितना विचार-शील और न्याय-प्रिय बनता रहे, लेकिन इस नारी के समक्ष वह क्षुद्र—नितान्त क्षुद्र है। शरीर पर चढ़ आये कीड़े को हम जिस प्रकार एकदम से मसल देते या तर्जनी के ज़ोर से दूर फेंक देते हैं, उसी तरह उसके समस्त गौरव और गर्व को इस नारी ने मसल-मसल कर फेंक दिया है। इस विचार से नितान्त मर्माहत होकर हरी एकदम से इतना अप्रतिभ हो उठा कि अवशिष्ट भोजन ग्रहण करने की उसकी प्रगति भी अत्यन्त शिथिल हो गयी। यहाँ तक कि कुछ फ़ासले पर बैठी हुई नन्दा को भी हरी की इस स्थिति का ज्ञान होने में देर न लगी। तब फिर प्रकृतिस्थ होकर उसने कहा—खाते जाओ, खाना मत बन्द करो। अभी तो आये हो, दो-चार दिन रहो।··· कुछ अपनी सुनाओ, कुछ मेरी सुनो। एक साधारण-सी बात से ऐसे रूठने लगोगे, तो कैसे मुझे निबाहोगे? वहाँ बहुत बढ़-बढ़कर बातें मारा करते थे, अब यहाँ ऐसे मौन—इतने अधिक

गम्भीर कैसे हो गये ? तब क्यों नहीं सोचा था कि जिस भौजी से दो बीड़े पान लेने के लोभ में रात के बारह-एक बजे तक के लिए तुम्हारी नींद हवा हो जाया करती थी, वही भौजी कभी अपना भी मुँह खोल सकती है !

नन्दा की इन बातों से हरी अपने मन में पराजित होने के भाव का ही अनुभव करे, यह भी उसकी एक भूल ही तो है ! क्या यह हरी का निरा उपालम्भ मात्र है ? क्या इसमें किसी ओर से कोई उत्सर्ग, किसी स्नेह-वारिध का कोई उत्क्रोश, किसी सरिता का उत्ताल तरंगोत्तोलन, किसी अनुराग-ज्योति का अकल्पित उद्दीपन नहीं है ? यकायक जैसे यही सोचकर हरी ने जो नन्दा की ओर दृष्टि-क्षेप किया, तो दोनों के नयन पारस्परिक लालसा के आलिंगन में ऐसे चंचल हो उठे कि कोई भी अपने आपको समुचित संयत न रख सका । और हरी तो किसी भी प्रकार अपने को मौन रख ही न सका । मुसकराते हुये वह बोला—जान पड़ता है, यह हार ही मेरी जीत है ।

"कौन जाने, हार है कि जीत ? मन ही मन कह रहे होगे कि कहाँ कीचड़ में आकर फँस गये ।···देखो तो, आज पानी भी इतने उत्साह से बरस रहा है, जैसे आज की रात ही उसे बरसना है ! कहते हुए नन्दा बोली—न न, थाली में कोई भी चीज़ छोड़ न सकोगे । थोड़ा सा तो रह ही गया है ।"

तब दूध पी लेने के बाद हरी ने कहा—किया क्या जाय ? जिन्हें कमलिनी से एक बार जरा भी प्रीति हो जाती है, वे

यह नहीं देखते कि आगे कीचड़ है और उसमें पड़कर फँस जाना भी सम्भव है।

"चलो, किसी तरह तुम अपने असली रूप में प्रकट तो हुए। तुम्हारा बोल तो फूटा। शुरू-शुरू में तो मैं इसी आशंका में डूबी जा रही थी कि तुम कहीं मुझे रुलाने के लिए ही तो नहीं आये हो।" नन्दा ने प्रकृत गम्भीरता में कहा।

किन्तु नन्दा के इस कथन के मूल भाव और अपने आपको देखकर हरी के मन का सारा उल्लास क्षण भर में ही अन्तर्हित हो गया। थाली का अन्तिम कौर ग्रहण करने के बाद उसने कहा—कौन कह सकता है भौजी, कि किस प्रसङ्ग से, किस-किसको, कब, किस तरह, रोना ही पड़ता है; क्योंकि हम, तुम और यह समस्त उनकी रचना, उनके विधान और संकेत पर ही नित्य नाचा करते हैं। वे अगर रुलाना ही चाहेंगे, तो हँसते रहने की हम चाहे जितनी चेष्टा करते रहें, सब विफल होगी। उनकी व्यवस्था के आगे हमें सिर झुकाना ही पड़ेगा।—रुलायेंगे तो रोना पड़ेगा, हँसायेंगे तो हँसना पड़ेगा। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि आज के हास को कल्पनाहीन भविष्य के रुदन की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है।

भोजन करने के बाद पानी पीकर हरी उठ खड़ा हुआ। नन्दा ने आँगन के निकट आकर आचमन करा दिया।

इसी समय बनवारी भीतर आकर बोला—बड़ी जल्दी दुबेजी भोजन कर चुके! भूखे तो नहीं उठ आये! क्या बताऊँ, बैठकबाज

लोगों के मारे, चाहने पर भी, मैं किसी तरह उठ न सका। आपसे जो बातें हो गई थीं, मैंने जब सब लोगों से उनकी चर्चा की, तो सब-के-सब बड़े प्रसन्न हुए। बोले—ऐसे विद्वान दुबेजी के दर्शन हम लोग भी करेंगे। चलिए-चलिए, लोग आपकी प्रतीक्षा में अभी तक जमे हुए हैं। हालांकि पानी इस समय कुछ थम गया है।

आचमन करने के बाद हरी के मन में आया था कि वह अभी तुरन्त "पान न खिलाओगी भौजी" कहने का अवसर पायेगा, किन्तु इस बनवारी ने आकर और ही राग छेड़ दिया!—उसका सारा मज़ा किरकिरा हो गया! यही सोचता हुआ वह बनवारी के साथ-साथ चल दिया। किन्तु दस क़दम आगे बढ़कर उसने कहा—अरे! आप भी तो भोजन कर लीजिये। संकोच के मारे साथ में नहीं बैठ सके हैं, तो क्या हुआ; लेकिन अब तो आपको भोजन करना ही चाहिये। लौटिये भाई साहब, लौटिए। वाह! ऐसा भी कहीं होता है!...तब तक मैं भी ज़रा देर एक लेट लगा लूँगा! लेकिन पहले पान खालूँ तो जाऊँ!

ऊपर की बातचीत के अन्तिम छोर को लेकर और छोटे-भैया के साथ ही हरी को भी लौटा हुआ देखकर निमेष मात्र में उधर नन्दा का भीतर-बाहर उत्तरंग हो उठा। इधर यह हरी भी यह देखकर कि उसकी भौजी उसके लिए पान लगाने के लिए ही बैठी हुई है, अतिशय उल्लसित हो गया।

बनवारी पैर धोकर जब चौके में चला गया, तो हरी आप ही नन्दा के पास आकर खड़ा होगया। यद्यपि यह समय उसके

कुछ कहने का न था; तो भी जब झट से उठकर नन्दा हरी को दो बीड़े पान देने लगी, तो हरी ने परिहास के व्याज में; अत्यन्त मन्द स्वर में, कह ही दिया—मैं अभी कहते-कहते रुक गया कि भौजी, पान न खिलाओगी ?

तब जिह्वा को थोड़ा बाहर निकालती फिर दन्त-पंक्ति से उसे दबाती और नृत्य-गर्भित छवि-माधुरी से विलक्षण भाव-भंगी उत्क्षेप करती हुई नन्दा ने मानो संकेत से कहा—तुम यह कहते क्या हो ? जाओ, जाओ, कोई सुन न ले !—किसी की दृष्टि न पड़ जाय !

किन्तु इसी समय फिर घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो जाने के कारण, उसके इस संकेत की उपेक्षा करते हुए, पहले थोड़ा आगे बढ़कर और फिर थोड़ा रुककर, हरी ने एक बार सोचा कि अब उसे लौट जाना चाहिये । वह शायद लौट भी जाता, पर जब उस कल्प के समान बीतनेवाले एक-एक क्षण में उसे स्पष्ट जान पड़ा कि भौजी का यह संकेत—उसकी लज्जाशीलता का यह आतंक—कोई चीज़ नहीं है । वह व्यर्थ है, सार-हीन । तब उसने एक बार इधर देखा, एक बार उधर और तुरन्त थोड़ा और आगे बढ़ते हुए, उसे अपने भुज-पाश में भरकर, अगणित चुम्बनों से, ऐसा अभिभूत कर दिया कि न चाहती हुई भी वह बनाय निश्चेष्ट हो गई और चाहती हुई तो ऐसी अप्रतिहत, मानो जन्म-जन्मान्तर से वह इसी क्षण की प्रतीक्षा में रही है ।

बाहर प्रकृति का अवाधकीर्तन चरम वेग के साथ चल रहा था—भीतर मानव-लिप्सा का यह दुर्निवार कौतुक। कुछ काल के लिए दोनों अपने आप को भूल गये। जीवन और अजीवन, यह लोक और परलोक, स्वर्ग और नर्क, समाज और धर्म सब-के-सब परस्पर विद्रोही हो-होकर मानव-पिपासा की नाट्यशाला में, माया और प्रकृति के साथ मिल-जुल कर, ऐसे नाचने लगे कि उनकी तत्कालीन चेतना और वाणी भी, अपने-पराये के भेद, कर्तव्य और ज्ञान से नितान्त तिरोहित हो गयी।

लगभग आध घण्टे में छोटीबहू बनवारी को भोजन कराके जब रसोई-घर से बाहर निकलीं, तब भी पानी उसी प्रकार बरस रहा था। एक हाथ में लालटेन लिये हुए इधर-उधर ननँद को देखती हुई, वह जब उसी के सोने के कमरे के निकट आ पहुँची, तो देखती क्या है कि वह द्वार की चौखट पर उदास बैठी हुई अपने ऊपर धीरे-धीरे पंखा झल रही है। पहले आश्चर्य से चमककर, फिर थोड़ी उत्साहित होकर बोली—अरे तुम यहाँ बैठी हो! और मैं तुम्हें उधर देख रही थी!···चलो, अब तुम भी खालो चलके। आज ऐसी रात और बरसते पानी में जीजी के यहाँ तुम्हारा जाना अब कैसे हो सकेगा! फिर ऐसी जरूरत ही क्या है? कौन जाने कल दुबेजी चले ही जायँ? और भी घड़ी-दो-घड़ी को उनसे बातें कर लोगी। चलो, उठो, इस तरह सोचती क्या हो बिट्टी?

नन्दा उस समय कहाँ थी, क्या सोच रही थी, छोटीबहू कैसे

जानतीं ? उसकी ननँद के जीवन के ये क्षण अक्षय होते हुए भी कैसे स्वप्निल, अमिट होते हुए भी उसे किसी तरह मटियामेट करने वाले, मदिर होते हुए भी कैसे हिंसक हो गये हैं, छोटीबहू कैसे जानतीं ? ख़ुद नन्दा और हरी भी शायद न जानते थे ! किन्तु चारों ओर से प्रच्छन्न रहकर भी संसार का प्रत्येक क्षण जिनके आगे सदा अनावृत ही रहता है, उन्होंने जब उसे जान ही लिया, तब और सब लोग इस समय कुछ भले ही न जान सकें; किन्तु कभी-न-कभी, किसी-न-किसी समय, जब उनके सामने भी वह अव्यक्त न रह सकेगा, तब आज की यह छोटी भौजी अपनी इसी ननँद को कैसा क्षुद्र, कैसा तिरस्करणीय समझने लगेगी, जैसे यही सब सोचती हुई नन्दा जीवन-हीन-सी होकर अत्यन्त क्षीण गति से, छोटीबहू के साथ-साथ, भोजन करने को चल दी।

[१३]

गाँव से चलने के पूर्व हरी अपने वृन्द के लोगों को ख़ूब बल देकर गया था। अपने असामियों और मिलने-जुलनेवाले रोज़ के मित्रों को एकत्रित करके एक दिन उसने उनकी निज की समस्याओं पर बातचीत की। अपने भीतर के ज्वालामुखी को सब के आगे स्पष्ट रूप से खोलकर उसने कहा—मैं नहीं चाहता कि तुम अगर अत्याचार सहन नहीं कर सकते, तो भी उसे सहन ही करते रहो। मेरा तो यह विश्वास है कि जो लोग सिंह बनकर रहना जानते हैं, यह

संसार उन्हीं के लिए है। इसके विपरीत जिन लोगों ने गीदड़ और श्वान का जीवन अपना रक्खा है, मैं समझता हूँ कि अपनी इस स्थिति से वे कभी ऊपर उठ नहीं सकते। वे हमेशा गुलाम रहेंगे, हर एक ज़माना उन्हें गुलाम ही बना रक्खेगा कोई उनपर दया करके, तरस खाकर, उन्हें ज़माने की गुलामी से छुड़ा लेगा, यह तो कभी हो ही नहीं सकता। मैं होऊँ, चाहे कोई और हो, जो लोग भी तुम पर अन्याय और ज़ुल्म करते हैं और अपना वह ज़ोर-ज़ुल्म क़ायम रखने के लिए, अपनी उसी ढँग की दलबन्दी रखकर, सदा तुम्हें पीसते रहना चाहते हैं, मैं साफ़ तौर से कह देना चाहता हूँ कि उनके सारे कुटिल संगठन के जाल को छिन्न-भिन्नकर डालो, टुकड़े टुकड़े करके उसे सर्वदा के लिए नष्ट कर दो और जालिमों को साफ़ तौर से यह सबक सिखा दो कि यह नादिरशाही हम एक दिन भी न चलने देंगे।

इस बात को सुनकर रामलाल बोला—हमारा बल ही क्या है, हमारी शक्ति ही कितनी है, जो हम ऐसी हिम्मत कर सकें। जो हमारे प्रभु हैं ज़मीदार, ताल्लुक़ेदार या राजा हैं, उनके विरुद्ध हम कोई बात करके कितने दिन रह सकते हैं? कोई ऐसा मार्ग हमको बतलाइये, जो आसान हो, जिसको हम अमल में ला सकें। आप तो ऐसी ऊँची, निरे आदर्श की, बात करते हैं, जिसे हम पा नहीं सकते, जो हमारे व्यवहार में आ नहीं सकता।

तब हरी ने कहा—मैंने इन सब बातों पर ख़ूब विचार करके देखा है। यह तो मैं नहीं कहता कि जहाँ कहीं, जो कुछ भी, कमज़ोरी या त्रुटि आपके अंदर है, मैंने उसी को पा लिया है, उसी को दूर करके आप सफल मनोरथ हो सकते हैं। लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि अगर आप हमारे बतलाये हुए मार्ग पर चल सके, तो आपको फिर अपने भविष्य को उन्नत बनाने के रास्ते को किसी से पूछने की ज़रूरत न रह जायगी।

मैं जानता हूँ कि सब से प्रधान, सब से बड़ी, समस्या आपकी ग़रीबी है। आप लगान नहीं दे पाते, इसीलिए आप महाजनों या ज़मीदारों के चंगुल में रहते हैं। अगर आपकी ग़रीबी दूर हो जाय, तो आप अपने प्रभुओं के जाल में फँसने के लिए वैसे मजबूर न हों, जैसे उस समय अकसर हो जाया करते हैं, जब आपके अन्नदाता पशुओं पर आ बनती है। आपके बैल-भैंस, आपकी गाय-भैंस कुड़क हो जातीं, या चुकौते में चली जाया करती हैं। और इसी डर के कारण आप हमेशा अपने प्रभुओं की धौंस, उनका बेजा दबाव, सहन करते और चाहते हुए भी अन्यायियों का पक्ष लेने तथा ऐसी असत्य बात कहने के लिए भी मजबूर होते हैं, जिसे आपकी आत्मा स्वीकार नहीं करती! आपकी यह मजबूरी कभी-कभी तो यहाँ तक बढ़ जाती है कि न चाहते हुए भी आप को ऐसी गवाहियाँ तक देनी पड़ती हैं, जिनमें आपके किसी किसी आत्मीय की ज़िन्दगी और मौत तक का सवाल रहता है! मैं जानता हूँ कि आपको इस नारकीय जीवन से उठने की सबसे पहले ज़रूरत है।

इसके लिए सबसे ज्यादा ज़रूरी यह है कि आप अब हमारे कहने से अपनी खेती का तरीक़ा ही बदल दें। केवल अनाज न उत्पन्न करके आप अब शाक-भाजी और फल भी उत्पन्न करें। मैं कैसे आपको विश्वास दिलाऊँ कि अगर आप ऐसा कर सकें, तो आपका तो ज्यादा फ़ायदा होगा ही, साथ ही आप अपने देशवासियों को भी कम फ़ायदा न पहुँचा सकेंगे। अनाज की तो दो या तीन फ़सलें हो आप कर पाते हैं; किन्तु शाक-भाजी की अनेक फ़सलें आप कर सकोगे। नाज की अपेक्षा उसमें आपका लाभ भी अधिक होगा। बात यह है कि नाज पैदा करने की जो शक्ति हमारे देश की भूमि में पहले थी, आज वह नहीं है। इसका कारण यह है कि वह भूमि अब अपनी ख़ूराक चाहती है। ख़ूराक, वह खाद या तो तुम जानते नहीं, या अगर जानते भी हो, तो अपनी गरीबी के कारण उसका उपभोग कर नहीं सकते। लेकिन मुश्किल तो यह है कि तुममें से जो लोग आजकल की खेती के अनुकूल कुछ खाद दे भी सकते हैं, वे भी उसकी ओर क़दम बढ़ाने से हिचकते हैं। मैंने अनेक बार आप लोगों को बतलाया है कि गोबर को गढ़े में इकट्ठा कर-करके, उसका मुँह बन्द रखकर, उसे कम-से-कम एक मास तक सड़ा डालने से जो खाद तैयार होती है, वह खेती को अधिक बल पहुँचाती है। आपसे इतना भी तो नहीं होता! यह कितने खेद की बात है! यह तो एक तरह की कायरता है! लाभदायक प्रयोगों का अनुसरण करने से जो लोग सदा दूर रहा करते हैं, वे दुनियाँ में कभी आगे बढ़ नहीं सकते।

इसके सिवा एक बात और है। आप लोगों ने अभी तक यह भी तो नहीं समझ पाया है कि शरीर को अनाज की उतनी अधिक ज़रूरत नहीं है जितनी शाक, फल और दूध की। मैं आपको यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि नाज की पैदावार अगर कम हो जाय, शाक-भाजी तथा फलों की पैदावार बढ़ जाय और साथ ही आप दूध अधिक पैदा करने लग जाँय, तो स्वास्थ्य के साथ-साथ आपकी ज़िन्दगी बढ़ सकती है। आज हमारे देश में जो अगणित बीमारियाँ फैली हुई हैं और हमारे बच्चे जो असमय काल के गाल में जा पड़ते और हमारे तन, मन और धन को एकदम से क्षीण कर जाते हैं, बहुत अंशों में इस विषय में भी नया जीवन और नया उत्थान अपने आँगन में खेलता हुआ आप देख सकते हैं।

इसके सिवा हमारी ग़रीबी का कारण कुछ तो हमारी कुप्रथाएँ भी हैं। ब्याहों में तथा अन्य धार्मिक संस्कारों के अवसरों पर अकसर इतनी अधिक फ़िज़ूलखर्ची में तुम पड़ जाते हो कि फिर वर्षों अपनी स्थिति तुम सम्हाल नहीं पाते। अपने इस दोष को भी तुम्हें दूर करना चाहिये।

अब मैं आपके बल की ओर एक नज़र डाल लेना चाहता हूँ। बल चीज़ क्या है, पहले इस बात को समझ लो। सब से ज़्यादा बड़ा बल रुपये-पैसे का समझा जाता है। मैं मानता हूँ कि इस बल से तुम सर्वथा हीन हो। लेकिन तुमको यह भी मालूम होना चाहिये कि समाज या संगठन का बल भी

एक चीज़ है। यह बल रुपये-पैसे के बल से किसी अंश में हीन नहीं है। जो लोग तुम्हारे साथ ज़ुल्म या अन्याय करते हैं, उनका विरोध या सामना करने के लिए धन का बल तो तब तुम्हारे लिए ज़रूरी है, जब तुम्हें अदालत की शरण लेने की ज़रूरत हो। लेकिन बात-बात में अदालत—यह तो तुम्हारी समझ, तुम्हारे ज्ञान का विष है। यह तो वह विषैली बीमारी है, जो सर्व्वस्व को स्वाहा किये बिना कभी शान्त ही नहीं होती। इस छूत की बीमारी; इस महासंक्रामक रोग, में तो तुम्हें पड़ना ही न चाहिये। कोई किसान हो, या ज़मीदार—जिसने भी अदालत-बाज़ी की शरण ली; सुख, शान्ति और संतोष का अलौकिक जीवन वह कभी व्यतीत कर ही नहीं सकता। फिर ईमानदार और न्याय के आगे सदा सिर झुकानेवाला आदमी अदालत में जाय ही क्यों? उसे तो अपने जीवन और प्राणों की आहुति देकर भी अपनी सचाई, अपने धर्म और ईमान, पर स्थिर रहना है। मैं साफ़ तौर से यह बात कह देना चाहता हूँ कि धर्म और ईमान पर स्थिर रहनेवाले आदमी को कभी अदालत में जाने की ज़रूरत नहीं पड़ा करती। हाँ, इस विचार का अपवाद अर्थात् इसके प्रतिकूल कभी कोई एक-आध उदाहरण सही हो भी सकता है। कभी-कभी अदालत में जाना आवश्यक हो भी जाता है।—उस आदमी के लिए भी, जिसका ईमान कभी डावाँडोल नहीं हुआ, कभी जिसने सचाई का रास्ता नहीं छोड़ा। परन्तु ऐसे आदमी भी अदालत में जाकर या तो विजयी ही

होते हैं, या अगर हारते भी हैं, तो अपना सर्व्वस्व नहीं स्वाहा कर बैठते ! और मान लो कि कभी ऐसा भी अवसर उनके जीवन में आही जाता है, तो भी वह हार उनके जीवन की, उनके मानव-धर्म की, उनके कर्तव्य और सत्य की, नहीं होती; वह तो असत्य और बेईमानी की हार हुआ करती है; क्योंकि किसी का भी हो, बेईमानी का कमाया हुआ धन, कभी-न-कभी महानाश की ओर ले ही जाता है।

हाँ, तो मैंने अभी बतलाया था कि धन के बल की तुम्हारे लिए उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी अधिक आवश्यकता समाज और संगठन के बल की है।

इस समय राजाराम ने कह दिया—वह समाज और संगठन का बल क्या चीज़ है, इसको भी ज़रा समझ लेने की ज़रूरत है।

हरी बोला—मैं भी यही बात उठाने जारहा था। तुम एक व्यक्ति हो। आज तुम कहते हो कि मैं उस आदमी को अपने ज़िला-बोर्ड का सदस्य बनाया जाना पसन्द नहीं करता, तो अगर तुम्हारी यह आवाज़—तुम्हारी यह राय—केवल एक है, तो तुम कोई चीज़ नहीं हो, तुम्हारी न तो कोई ताक़त है—न कोई क़ीमत। लेकिन अगर तुम्हारी इस आवाज़ का साथ देनेवाले तुम्हारे समूह के पचास आदमी भी हैं, तो तुम किसी तरह निर्बल और हीन नहीं हो। किसी आदमी में इतनी हिम्मत नहीं हो सकती, जो तुम्हारी क़ीमत न समझे। इसी को समाज का बल कहते हैं।

लेकिन मैंने यह उदाहरण कुछ बाहरी लिया है। तुम कहोगे कि हमको ज़िलाबोर्ड के सदस्यों से उतना काम नहीं पड़ता, जितना रात-दिन अपने ख़ास प्रभुओं से पड़ता है। ठीक। मैं उसी ओर आता हूँ। मान लो कि आज तुमसे कहा जाता है कि तुम अमुक व्यक्ति का साथ न दो, उसकी खड़ी हुई फ़सल काट लो, उस आदमी के घर जाकर उसे पकड़ लाओ, उसके बैलों की रस्सी को खूटों से खोलकर उन्हें कहीं भगा दो; उसकी ज़मीन में अपना निस्तार करने लगो, उसके खेत की मेंड़ के आधे के क़रीब हिस्से को काटकर अपने खेत में मिला लो, उसके खेत में कटे हुए पानी को बन्द करके अपने, हमारे या किसी और के खेत में लग जाने दो, जो रुपया या अनाज तुमने उससे लिया है, उसे न दो; अपने रुपये सख़्ती के साथ वसूल करो, जिसमें साला दाने-दाने को मोहताज हो जाय; इत्यादि। मैं समझता हूँ, तुम्हारे निकट की, घर की, यही समस्यायें हैं। ऐसे अवसर पर, यदि तुम अपने निजी बल को अपने वृन्द, समाज या समूह के बल के साथ मिलाते हुए उसे न्याय और दया-धर्म के रास्ते पर लगाकर चल सको, तो यह बात तुम्हारे लिए सबसे अधिक कल्याण और मंगल की होगी। तब कोई भी आदमी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकेगा। तुम्हारे साथ ज़ोर-ज़ुल्म या अन्याय करने कौन आया करते हैं? वही न, जो तुम्हारे पड़ोस में रहते, तुम्हारे साथ जिनका नित्य व्यवहार रहता है। फिर तुम ख़ुद जब इन्हीं की परिस्थिति में पहुँच जाते

हो, तो इस बात को क्यों भूल जाते हो कि आज मैं इसके साथ अगर इस तरह का व्यवहार करूँगा, तो कल यही या इसीका कोई भाई हमारे साथ भी इसी तरह का व्यवहार कर सकता है ! इस तरह जब तुम .खुद नेकनियत रहोगे और अपने को एक समाज का अंग बनाकर रक्खोगे, तब किसी में इतनी हिम्मत नहीं हो सकती, जो तुमको किसी तरह की कोई हानि पहुँचा सके।

तब बलदेव ने पूछ दिया—पर अगर कोई आदमी हमारे साथ ज्यादती या ज़बरदस्ती करे, तो उसका जवाब कैसे दिया जाय ?

हरी ने उत्तर में कहा—जवाब देने के कई तरीक़े हैं। उस आदमी की वैसी करतूत के प्रति अपने वृन्द में घृणा के भाव फैलाना उनमें सब से आसान है। मान। लो किसी आदमी को तुमने उसकी बड़ी जरूरत के वक्त पाँच रुपये उधार दिये हैं। और अब वह आदमी किसी के भड़कावे में आकर उन रुपयों को देने से इनकार करता है, तो अपनी सहृदयता और उसकी बदनीयती के इस क़िस्से को अपने समाज के हरएक आदमी के हृदय में इतना भर दो कि उसका कोई भी आदमी जब कभी भी उस बेईमान से मिलने का मौक़ा पाये, तब तुम्हारी बात को उससे कहे बिना न रहे । उस समय उसको इस बात का भी मौक़ा मिलेगा कि तुम्हारी बात को लेकर उससे दो-चार खरी-खोटी भी कह दे। तुम्हारे वृन्द के दस आदमी अगर उस बेईमान के साथ इसी तरह से पेश आये, तो उसकी आदमियत का

असली या बनावटी सोया हुआ भाव सजग हुए बिना रह नहीं सकता। नतीजा यह होगा कि आज़िज़ आकर वही आदमी, जो बहकावे में आकर तुम्हारे साथ तन गया था, एक दिन तुम्हारे सामने झुकाने के लिए मजबूर होगा।

इसके सिवा संगठन का इससे भी बड़ा बल तुम्हारे पास एक और है। वह है बहिष्कार। मान लो कि किसी ने अपने यहाँ काम करने वाले किसी मज़दूर नौकर को मार-पीटकर बाहर कर दिया है और वह उसकी तनख़्वाह भी नहीं देने कहता है। ऐसी दशा में उस मज़दूर को चाहिये कि अपने समुदाय के लोगों से मिलकर वह ऐसा वातावरण बना ले कि जो कोई भी आदमी, उसके यहाँ नौकरी करने जायगा, उसके साथ हम लोग अपना किसी तरह का कोई सम्बन्ध न रक्खेंगे। कोई उससे बातचीत न करेगा, उसके साथ बैठेगा नहीं, उसके हाथ का पानी तक न पियेगा। जब कभी भी कोई उससे मिलने का अवसर पायेगा, तब यही कहेगा—तुमने एक आदमी के पैर-पर-पैर रक्खा है, तुमने उसकी रोज़ी ली है, तुमने एक अन्याय—एक ज़ोर-जुल्म—को बल दिया है। तुमने हमारे समाज के साथ विश्वासघात किया है, तुम दुष्ट आदमी हो। हमारा तुम्हारे साथ सम्बन्ध कैसा? इसका फल यह होगा कि उस मालिक या प्रभु को यह सोचना पड़ेगा, यह अनुभव करना पड़ेगा कि वह ग़लती कर बैठा है और उस ग़लती का संशोधन करना बहुत ज़रूरी है। क्योंकि उसका वह नया नौकर भी तब

उससे यह कहने के लिए विवश होगा कि हमारा तो लोगों के साथ चलना-फिरना, बैठना-उठना तक बन्द है। आपने उस आदमी को मारकर निकाल दिया था, उसकी तनख्वाह तक नहीं दी थी। एक दिन आप हमारे साथ भी ऐसा ही व्यवहार कर बैठेंगे, इसलिए हम अपने आप ही अपनी नौकरी छोड़े देते हैं।

इसी समय घसीटा बोल उठा—आपने यह जो तरीक़ा बतलाया, वह है तो ठीक, यह मैं मानता हूँ। लेकिन है यह बड़ी हिम्मत का काम। कोई आदमी अपनी लगी-लगाई नौकरी छोड़ देगा, यह कैसे हो सकता है?

"हो सकता है घसीटे भाई, अगर तुममें संगठन का बल हो। आज तुमको यह बात इतनी जो कठिन जान पड़ती है, इसका कारण है। बात यह है कि अभी तुमने अपने समुदाय की दृढ़ता, उसकी मज़बूती के बल को, तो देखा ही नहीं है। अभी तुमने यह तो जान ही नहीं पाया है कि जब तुम सब एक हो जाओगे, तब तुम्हारी स्थिति क्या होगी। अभी तो तुम अपने आप को न देख-कर दूसरों को देख रहे हो। लेकिन जिस दिन तुम अपने आपको समझ लोगे, अपनी शक्ति की तौल-नाप दूसरों को देख-देखकर करने लगोगे, तो तुमको पता चलेगा कि तुम्हारा अपना बल ही श्रेष्ठ है।...मैं तुम्हीं से पूछता हूँ। मान लो कि किसी के साथ तुम्हींने बुरे बर्ताव किये हैं। और आज यहाँ बैठे हुए ये दस-पन्द्रह आदमी तीन-चार दिनों तक ही बराबर तुमको दस-पाँच ऐसी खरी-खोटी सुना जाया करें—यहाँ तक कि तुम्हारा खाना-पीना

और सोना तक दुश्वार हो जाय, तो तुम क्या करोगे ? तुममें इतनी हिम्मत है कि रात-दिन की इस ज़िल्लत—इस बेइज्ज़ती—को तुम बरदाश्त कर लोगे ?

सभी उपस्थित लोग घसीटे की ओर देखने लगे।

और उसी समय घसीटे ने मुसकराते हुए कहा—नहीं है छोटेभैया।

"लेकिन जब ज्यादती हमारे बीच का कोई आदमी न करे, ख़ुद ज़मीदार करे, तब उसका मुक़ाबिला कैसे किया जाय ?"—रामबली बोल उठा।

हरी ने उत्तर में कहा—ज़मीदार ज्यादती करेगा क्या, जब तुम उसके कर्ज़दार न होगे ? लगान बक़ाया न रखने का बल पैदा करने की बात मैं पहले ही कर चुका हूँ। लेकिन मान लो कि वह कहता है कि हमारी ज़मीन में तुम्हारे मवेशी जाँयगे, तो उन्हें मवेशीख़ाने भेज दिया जायगा। ऐसी दशा में तुम कुछ दिनों के लिए कष्ट में पड़ सकते हो; क्योंकि तुमको मवेशी चराने के लिए दूसरे चरागाहों या जंगलों की ओर जाना पड़ेगा। लेकिन अगर तुममें अपने समाज का बल हो, तो तुम उसकी इस सख़्ती का जवाब क्या दूसरी अन्य बातों से दे नहीं सकते ? अपने समुदाय को उसके विरोध में तैयार करके तुम सहज ही में उसका बदला चुका सकते हो।...क्यों रे मुलुवा, तेरी पंचायत में फिर क्या तै हुआ ?

मुलुवा बोला—मालिक, यही तै हुआ है कि सबेरे से दोपहर या तीसरे पहर तक काम करने के बाद, फिर नहा-खा लेने पर, कोई भी हजामत बनाना मंजूर न करे। हजामत बनाने का काम करने के बाद नहाकर शुद्ध होना जरूरी है।

तब हरी बोला—हरएक गाँव में मवेशी चरानेवाले दो-चार आदमी ही तो होते हैं; और यह भी मानी हुई बात है कि जमीदार खुद भी तो अपनी कुछ गायें या भैंसें रखता ही है। ऐसी दशा में वह अपने उन मवेशियों को किस तरह चरवा सकेगा, जब संगठन के बल पर तुम्हारे साथ के लोग भी उस जमीदार के मवेशी चराने से इनकार कर बैठेंगे।

अनेक स्वरों में एक साथ सुनाई पड़ा—ठीक तो है। संगठन हो, तो कभी इस तरह की बातें ही पैदा न हों।

इसके बाद सब लोग अलग-अलग मिलकर आपस में बातचीत करने लगे। फिर दो-दो, चार-चार आदमियों के समूहों ने उनसे अलग-अलग मिलकर देर तक बातें कीं। अन्त में एक नया जीवन लेकर सब लोग अपने-अपने घर गये।

× × ×

उस दिन गाँव के उस उपस्थित जन-समुदाय में कुछ व्यक्ति ऐसी भी थे, जो केवल तमाशा देखने के लिए आये थे और जिनका उद्देश्य कृष्णगोपाल के पास जाकर उनसे उसका सारा कच्चा चिट्ठा बतलाना मात्र था। रात को उन्हीं लोगों में से एक

व्यक्ति उसके यहाँ जा पहुँचा। उस समय वहाँ कृष्णगोपाल के सिवा उनके मैनेजर और गोकुलचन्द उपस्थित थे।

फाटक के भीतर मदान में चारपाइयाँ पड़ी हुई थीं, एक बिछे पलँग पर मसनद के सहारे उढ़के हुए कृष्णगोपाल बैठे थे, दूसरी खाली चारपाई पर मैनेजर और गोकुलचन्द। दूर से ही किसी के आने की आहट पाकर गोकुलचन्द ने चलती हुई बात से ध्यान हटाकर बाहर ओर की जो देखा, तो कृष्णगोपाल और मैनेजर दोनों चुप रह गये। पहचानकर मैनेजर बोला—आओ भाई राधेलाल। बैठो। इधर निकल आओ। हम लोग तुम्हारा ही इन्तिज़ार कर रहे थे।

राधेलाल आकर मैनेजर के पास ही बैठ गया।

कृष्णगोपाल ने पास रक्खा हुआ पनडब्बा आगे बढ़ा दिया। गोकुलचन्द ने उसे खोलकर दो-दो बीड़े पान उस राधेलाल से लेकर सब को दे दिये।

सब के पान खा लेने के बाद कृष्णगोपाल ने पूछा—कह जाओ, क्या-क्या हुआ?

राधेलाल बोला—आपलोग उनका विरोध चाहे जितना अपने मन में रक्खें, लेकिन आपही की ओर का आदमी होने पर भी मुझे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि छोटेभैया में अनेक गुण ऐसे हैं, जिनके आगे अगर जनता सिर झुकाने के लिए तैयार रहती है, तो इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है।

गोकुलचन्द इसी समय बोल उठा—यहाँ आकर छोटेभैया की प्रशंसा सुनाने के लिए, जहाँ तक मैं समझता हूँ, आपको वहाँ जाने की न तो तकलीफ़ दीगई थी, न ख़ुद आप ही यहाँ इस मतलब से आये हैं। असल बात ही आपको पहले कहनी चाहिये।

"यही हमलोगों में एक बड़ा भारी ऐब है कि" राधेलाल कुछ अधिक गम्भीर होकर बोले—'ज़रा-सी बात में भी हमलोग इतनी जल्दी अपना धीरज खो बैठते हैं। मानलो कि एक-आध बात में छोटेभैया की सच्ची, उचित, तारीफ़ करके ही मैं असली बात कहना चाहता था, तो इसमें आपको बुरा मानने या इस क़दर परेशानी ज़ाहिर करने की क्या ज़रूरत थी ?"

कृष्णगोपाल बोला—अच्छा-अच्छा, समझ गया कि बड़े मुंसिफ़ हो—गुणदोष समझने की बुद्धि भी तुममें ख़ूब है। लेकिन इस वक्त हमको इन सब बातों से तो कोई सरोकार है नहीं। फ़िज़ूल में बात बढ़ाने से फ़ायदा क्या ?

गोकुलचन्द तमककर बोला—इसी तरह के आदमी अपने होकर दूसरी ओर जा मिलते हैं। राधेलाल, खूब सोच-समझ लो।

अब तो राधेलाल आवेश में आकर चारपाई पर से नीचे उतर कर, बाहों पर के ढीले कुरते की आस्तीन को ऊपर की ओर समेटता हुआ, बोल उठा—मैं धमकी ब्रह्मा की भी सहन नहीं करता, आप चीज़ क्या हैं ! इस तरह की बातचीत मुझे पसन्द

नहीं है बड़ेभैया। आप इनको मना कर दीजिये कि ये मुझसे ऐंठकर कभी बातचीत न करें।

गोकुलचन्द भी उठकर खड़ा होगया। क्रोध में आग होकर, लाठी सम्हालता हुआ, बोला—बड़ेभैया, बस अब और ज्यादा ठहरने की ज़रूरत नहीं है। आज ही निपट लेने दो।

राधेलाल आगे बढ़ता हुआ कड़ककर बोला—अरे जाओ मियाँ गोकुलचन्द! किसी और धोखे में न रहना। यहाँ तुम जैसों को रोज़ दायें-बायें खिलाया करता हूँ। इस वक्त बड़ेभैया का लिहाज़ करता हूँ, नहीं तो आटा-दाल का भाव तुम्हें अभी मालूम होजाता।

जब तक कृष्णगोपाल उठें-उठें, मैनेजर साहब यह सोचते ही रहें कि किसका पक्ष प्रबल है और किसको पहले मना करना चाहिये, तब तक ऊपर-लिखित बातें हो ही गईं।

गोकुलचन्द राधेलाल की बात का जवाब देने ही वाले थे कि कृष्णगोपाल ने पलँग पर बैठे हुए से घुटनों के बल उचककर एक हाथ से गोकुलचन्द को मना करते हुए कहा—तुम भी इतने समझदार होकर, ज़रासी बात पर इस तरह झगड़ने के लिए तैयार हो जाते हो! मैं अब तुमको आगे बोलने से मना करता हूँ।

मैनेजर बोला—अरे भाई लड़ना ही है तो लड़ ही लेना एक दिन; क्योंकि रवैया ऐसा ही देख पड़ता है। लेकिन आपस में

लड़ना ! अफ़सोस ! इससे बढ़कर नादानी और क्या हो सकती है ? अरे ज्यादा नहीं, तो कम-से-कम इतना तो लिहाज़ करना था कि जो कुछ कहना होगा, बड़ेभैया ही कह लेंगे। मगर आपकी कुछ ऐसी ख़राब आदत पड़ गई है कि बीच में बिना छेड़ख़ानी किये आपसे रहा नहीं जाता !

अब कृष्णगोपाल राधेलाल की ओर देखते हुए हँसकर बोले—और तुम भी राधेलाल, हो पूरे मसख़रे ! गोकुलचन्द की सूरत देखते ही तुमने बात करने का तर्ज़ ही कुछ ऐसा बदल दिया कि दो मिनट में ही उठ खड़े होकर दोनों हाथा-पाई के लिए भी तैयार हो गये ! ख़ैर, कोई बात नहीं, गरमाहट आ गई हो, तो कुछ खिलाया-पिलाया जाय ?

मुसकराकर राधेलाल कहने लगा—बस बड़ेभैया, आपकी आँखों का यही शील, आपके स्वभाव की यही ख़ूबी, मुझे आपके बाज़ू से अलग नहीं होने देती। बार-बार मुझे इसी का ख़्याल करना पड़ता है। नहीं तो इतने ऐबों के होते हुए और इस (गोकुलचन्द की ओर संकेत करते हुए) आदमी का साथ करने के कारण कभी-कभी आप पर भी मेरी तबियत ऐसी झुँझला उठती है, बल्कि दिल ही कुछ ऐसा टूट जाता है कि मारो गोली आँख की इस मुरौवत को और जो मुनासिब रास्ता देख पड़ता हो, उसी को पकड़ो।

गोकुल अलग चबूतरे पर बैठा हुआ था। कृष्णगोपाल ने

उसे बुलाकर कहा—चार जगह आध-आध पाव ताज़ी, अभी आयी हुई, मिठाई रख लाओ।

मैनेजर गोकुलचन्द की ओर देखता हुआ बोला—बाज़ लोगों की आदत होती है कि जब तक कुछ ख़ातिर नहीं करवा लेते, तब तक काम की बातें करने को उनका जी नहीं चाहता!

अन्तिम शब्द कहता हुआ वह गोकुलचन्द की ओर देखकर थोड़ा मुसकराने भी लगा।

गोकुलचन्द भीतर की जलन को उत्तर की क्षीण हँसी में भी कुछ स्पष्ट झलकाता हुआ कहने लगा—हँसिये मत मुंशीजी। यह हँसने का मौक़ा नहीं है?

कृष्णगोपाल बटुए को खोलकर उसमें से केवड़े के इतर की शीशी निकालता हुआ गोकुलचन्द की ओर बढ़ाकर बोला—यह मौक़ा हँसने का नहीं, तो इसका तो है!

गोकुलचन्द बोला—आप भी पूरे उस्ताद हैं। दो आदमियों को लड़ाकर दूर से मज़ा लेना आपको ख़ूब आता है!

इतर की शीशी खोलकर उसे दाहिने हाथ के अँगूठे के ऊपर ज़रा-सा लगाने को आगे बढ़ते हुए गोकुलचन्द बोला—दरबारदारी के इसी मज़े के क़ायल हैं बाबू राधेलाल। अरे, नाराज़ चाहे जितना हो लेना, इस वक्त थोड़ा मज़ा भी तो ले लो भाई राधेलाल। इस वक्त ऐसा नादिर मौक़ा तुम्हारे ही सबब से हासिल हुआ है।

"बाबू राधेलाल ऐसे-वैसे मामूली आदमी नहीं हैं।" कृष्णगोपाल ने कहा ही था कि मैनेजर बोलउठा—यह बात क्या अब भी छिपी रह गयी है ? एक नंबर के रंगबाज़ आदमी हैं ये। इस क़िस्म के आदमियों के कान लम्बे, मूँछ छोटी और सिर·····।

मैनेजर अभी इतना कह ही पाया था कि गोकुलचन्द ने बीच से ही उसे पूरा करते हुए कहा—सिर चपटा होता है !

गोकुलचन्द का इतना कहना था कि सब-के-सब उपस्थित व्यक्ति एक साथ ठहाका मारकर हँस पड़े ! यहाँ तक कि राधेलाल के चिपके हुए होंठ तक स्थिर न रहकर थोड़े विकसित हो ही गये !

कृष्णगोपाल बोले—बड़ी देर लगा दी रे गोकुला !

गोकुल ने दूर से ही, ज़ोर से, उत्तर दिया—अभी आया सरकार।

राधेलाल बोला—छोटेभैया के यहाँ इन्हीं सब बातों की कमी रहती है। जिन लोगों को बड़ेभैया के पास बैठने-उठने का एकबार चसका लग जाता है, वे इसीलिए तो फिर जल्दी इस मण्डली से फूट नहीं पाते।

इसी समय गोकुलचन्द ने उसकी बात समाप्त होने के साथ ही कह दिया—और इसीलिए ज़बान की चाट के वशीभूत रहने के कारण वे लोग छोटेभैया के आदमी होकर भी यहाँ का बैठना-

उठना, उस दशा में भी नहीं छोड़ते, जब कि वे अपने आपको बड़ा विचारवान मानते हैं।"

"अब देखिये बड़ेभैया, ज़रा इनकी इस बात पर ग़ौर कीजिये।" राधेलाल ने कह दिया।

गोकुलचन्दजी को सम्बोधित करते हुए कृष्णगोपाल बोले—तुमभी हो पूरे अहमक़। मैं तुम्हें कितना मना करता हूँ, लेकिन तुम अपनी आदत से बाज़ नहीं आते! आख़िर किसी भले आदमी पर ऐसा इलज़ाम लगाने से तुम्हारा क्या मतलब हल होगा?

"वाक़ई पंडतजी, आपकी बातचीत कभी-कभी बिलकुल नाक़ाबिल बरदाश्त होती है" मैनेजर ने इस तरह कहा कि गोकुलचन्द ध्यान से उसकी ओर ताकता रहगया। उसके मन में आया कि यह चापलूस मैनेजर भी हमारे रास्ते का काँटा है, इसको भी समझना ही होगा। इसी समय गोकुल ने कागज़ के चार टुकड़ों पर आध-आध पाव के ताज़े पेड़े सबके सामने रख दिये।

पेड़ा चखते हुए मैनेजर बोला—वाह! पेड़ा क्या है, मज़ा बहिश्त का है!

राधेलाल के मन में आया कि वह कह दे—तब तो अल्लामियाँ को फिर भरती शुरू कर देनी पड़ेगी; क्योंकि दोज़ख़ को एकदम उजाड़ देना उन्हें क़तई पसन्द न होगा। किन्तु कृष्णगोपाल का ख़याल करके वह चुप ही बना रहा।

जलपान करने के बाद पहले से किसी को कुछ कहने का अवसर न देकर राधेलाल ने छौटेभेया के यहाँ होनेवाली बातचीत का सार बतलाते हुए कहा कि उन्होंने लोगों को संगठित रूपसे मिलकर रहने, नये तरीक़ों से खेती करके अपना बल बढ़ाने और चाहे जैसी तकलीफ़ क्यों न उठानी पड़े, ज़ुल्म और अन्याय के सामने कभी भी अपना सिर न झुकाने पर ज़ोर दिया। उन्होंने शुरू में ही यह साफ़ तौर से कह दिया कि मैं नहीं चाहता कि मैं होऊँ या और कोई भी हो, किसी का भी अन्याय और ज़ोर-ज़ुल्म आप बराबर सहते ही रहें। क्योंकि अन्याय के बोझ से बराबर दबे रहने का जिन्हें अभ्यास पड़ गया है, जो उसके विरोध में कुछ करना नहीं चाहते, वे सदा ग़ुलाम रहेंगे, कोई भी उनपर दया करके उन्हें गुलामी से छुड़ाने न आयेगा। किसी भी ज़माने की ग़ुलामी से वे कभी छुटकारा नहीं पा सकते। उन्होंने मिसाल दे-देकर बतलाया कि आज तुम्हीं आपस में फूटे हुए हो, इसलिए तुम्हारी कोई ताक़त नहीं है और जो भी चाहता है, तुम्हें दबा लेता है। लेकिन जिस दिन तुम संगठित होकर एक हो जाओगे, उस दिन कोई तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सकेगा।

"सुनो गोकुलचन्द, मैंने तुमसे कैसी सोलहआने सच बात कही थी कि इसका नेता बनने का यह चसका ही इसको ले डूबेगा !" कृष्णगोपाल ने इस तरह कहा—मानो उसके हृदय का यही एक सबसे बड़ा दर्द है।

गोकुलचन्द उठकर खड़ा हो गया और बोला—ज़रासा अलग आकर मेरी एक बात सुन लीजिये, तो मैं भी अब चलूँ··· देर काफ़ी हो गई है।

कृष्णगोपाल पहले तो बोला—अब आप इस वक्त क्या जायँगे ! परन्तु जब गोकुलचन्द ने कहा—ज़रूरी काम है, बिना गये न बनेगा।—तो अलग कमरे में आकर दोनों तीन-चार मिनट तक गोपनीय ढँग से बातचीत करते रहे।

अन्त में गोकुलचन्द ने कहा—इसीलिए अपने ओर की कोई बात राधेलाल के सामने करने की ज़रूरत नहीं है। यही कहने के लिए मैंने आपको अलग बुलाया था।

कृष्णगोपाल ने कहा—मैं क्या जानता नहीं हूँ ?

इस गोपनीय बातचीत के पश्चात् कृष्णगोपाल तो पलँग पर फिर पूर्ववत् आकर बैठ गये। लेकिन गोकुलचन्द लाठी लेकर चल दिया।

इसी क्षण कृष्णगोपाल ने कहा—अरे, पान तो खाया ही नहीं।

गोकुलचन्द चलते हुए कहता गया—अब उसे हमारे खाते में जमा रखिये।

अब राधेलाल की ओर देखकर कृष्णगोपाल बोला—और कहो भई राधेलाल।

राधेलाल बोला—अब मैं भी चलूँगा बड़ेभैया।

सिगरेट सुलगाकर—"अभी ऐसी जल्दी कैसे जाओगे ? और भी कुछ हालचाल बताओ।" कृष्णगोपाल ने कहा।

"और तो कोई हाल-चाल नहीं है" कहकर राधेलाल उठ खड़ा हुआ। नमस्कार करके बोला—अब चलूँगा।

राधेलाल बाहर आकर मन-ही-मन सोचने लगा कि आज जान पड़ा—मेरा यहाँ आकर बैठना, उधर के समाचार देना, कितना निन्दनीय कर्म है ! तब गोकुलचन्द के ये शब्द उसके कानों में गूँजने लगे—वे लोग ज़बान की चाट के वशीभूत रहने के कारण तब भी यहाँ का बैठना-उठना नहीं छोड़ते, जब कि अपने आपको बड़ा विचारवान लगाते हैं !

इधर कृष्णगोपाल ने मैनेजर से कहा—कल गोकुलचन्द इटावा जायँगे। दस जुलाई उनकी तारीख़ है।

मैनेजर बोला—किस मुक़दमे की ?

कृष्णगोपाल—वही जो फ़ौजदारी अदालत में उन्होंने उसके विरुद्ध मान-हानि का दावा दायर किया है।

आश्चर्य में आकर मैनेजर बोला—दायर हो गया ?

सिगरेट के अवशिष्ट अंश को, आख़िरी कश से समाप्तकर उसे फेंकने के बाद, कृष्णगोपाल बोला—"क्यों, इसमें ऐसे तअज्जुब की क्या बात है ? जो जैसा करेगा, उसे वैसा फल न मिलेगा !" कृष्णगोपाल ने कह तो दिया, लेकिन उसी समय अपने इस विचार से वह ख़ुद भी थोड़ा आतंकित हो उठा। उसके

मन में आया—कर्मों का फल ? कर्मों के फल से कौन बच सकता है ?

लेकिन उसका यह सोचना चिकने घड़े पर पड़े हुए पानी के एक बूँद के समान था।

[१४]

बनवारी भोजन करके जब बाहर लौटा और हरी के निकट गया, तो उसने देखा कि वे लेट गये हैं। तब उनकी प्रतीक्षा में बैठे हुए अन्य लोगों के पास बाहर आकर उसने कहा कि अब तो वे लेट रहे। जान पड़ता है, नींद भी उन्हें आ गई। अब तो कल ही बातचीत करना ठीक होगा। जहाँ तक हो सकेगा, उन्हें कल तक तो रक्खूँगा ही; अभी शाम को तो आये हैं! एक दिन और रह लेंगे।

लोगों ने कहा—अच्छा, तो कल ही सही। लेकिन कल किसी तरह उन्हें जाने न दीजियेगा!

बनवारी बोला—हाँ, जहाँ तक हो सकेगा, ज़रूर।

वे लोग चले गये।

इसी समय नन्दा उधर आगई। उजागर को देखकर बोली—अरे उजगरा, ज़रा मुझे उस घर तक पहुँचा तो आ। लालटेन हाथ में ले ले।

बनवारी बोला—हाँ, पहुँचा आ झट से, फिर मैं भी फाटक बन्द कराके सोने जाऊँ।

उजागर लालटेन उठाकर नन्दा के पीछे हो लिया।

हरी लेट तो गया था, पर नींद आने का अभी तक कोई लक्षण उसमें उदित नहीं हुआ था।

यह हरी अपने आप को बड़ा वीर लगाता रहा है। कोई कैसा ही भयानक प्रसंग क्यों न उपस्थित हो गया हो, उसने कभी उसके समक्ष अपना सिर नहीं झुकाया। लेकिन इन दिनों वह कभी-कभी इतना उद्विग्न हो उठता रहा है कि बहुतेरी ऐसी बातें भी उससे हो गयी हैं और अब भी उनका क्रम भंग नहीं हुआ है, जिनको वह अपनी सजग चेतना में कभी उचित नहीं मानता। किं कर्तव्य-विमूढ़ होकर प्रायः ऐसे मार्ग पर भी उसके पैर जा पड़े हैं, जो आगे चलकर उसके लिए सर्वथा विपथगामी सिद्ध हुए हैं। किन्तु इसके लिए उसके पास कोई चारा नहीं है। वह सदा से इसी विश्वास का आदमी रहा है कि हम अपनी विवेक-बुद्धि को भरसक जागरूक रखकर भी यदि कभी पद-भ्रष्ट हो ही जाते हैं, तो हम सर्वथा निर्दोष हैं। हम नहीं मानते कि ऐसी दशा में भी हमी दोषी हुआ करते हैं। लेकिन आज हरी अपने को इस विश्वास से गिरता हुआ पा रहा है।

कमरे में दूर खूँटे पर एक लालटेन मंद प्रकाश से टिमटिमा रही है। पानी बरसने का क्षीण स्वर और उसके साथ मिली हुई झिल्ली की झनकार-मात्र सुनाई पड़ती है। और हरी कभी-कभी चित्त लेटकर उस कमरे की कड़ियों को गिनने

लगता है। वह सोचता है कि कर्म का यह बन्धन मनुष्य के लिए जो ऐसा अनिवार्य हो गया है, क्या इसका कारण उसका अपना अज्ञान ही है? किसी के भी अधिकारों को, किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए, कोई व्यक्ति यदि किसी ऐसे पथ का अवलम्बन करता है, जो उस निर्माता की दृष्टि में तो कोई चिन्त्य स्थिति नहीं उत्पन्न करता, लेकिन सभ्यता और समाज के कठोर नियमों की श्रङ्खला जिससे टूट जाती है, उस दशा में वह व्यक्ति किस प्रकार पापी ठहर सकता है? सामाजिक विधानों के प्रति विद्रोही बनजाने मात्र से कोई व्यक्ति उस जगन्नियंता के सामने भी पापी सिद्ध होता है, यह तो कोई बात न हुई। सामाजिक विद्रोही को समाज चाहे फाँसी पर लटका दे, पर उस जगत्पिता की कोमल गोद उसके प्रति सदा रिक्त रहेगी। सदा ही वह उसे अपने अंक में भरकर उसे अपनाने को तत्पर रहेगा। कभी ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह न्यायकारी, वह अलखनिरंजन, भी उसे दंडनीय ही समझकर उसको तिरस्कार और घृणा से दुतकार दे। तब उसके मनमें आया कि ऐसी दशा में चिन्ता का कोई विषय नहीं है। वह लड़ेगा, लड़ेगा—पाखंडी, नृशंस और दुर्नीतिमूलक समाज के साथ वह विद्रोही बनेगा—विद्रोही। कोई भी व्यक्ति, कोई भी शक्ति, उसे उसके इस निश्चय से डिगा न सकेगी।

उजागर के लौट आने पर, जब सदर फाटक बंद हो गया, तो बनवारी एक बार फिर उसी कमरे की ओर आ गया, जिसमें

हरी लेटा हुआ था। ध्यान से जो उसने हरी को देखा, तो आश्चर्य से कहने लगा—अरे! आप तो जग रहे हैं। नाई पैर दाबने आया था कि नहीं?

एक सुदीर्घ निःश्वास छोड़कर हरी बोला—क्या करूँ, कभी-कभी मुझे बारह-एक बजे तक किसी तरह नींद नहीं आती। विचारों का ऐसा घटाटोप मेरे भीतर छा जाता है कि उनके कारण न तो मैं आराम से सो ही पाता हूँ, न कोई दूसरा और काम ही कर सकता हूँ।—यहाँ तक कि किसी से बातचीत भी नहीं कर सकता। हाँ, नाई आया था, लेकिन मैंने ज़रूरत न समझकर लौटा दिया।

बनवारी बोला—आप लोग अगर हरएक बात की ऐसी छानबीन न करते रहें, तो हम लोगों को सच्चा रास्ता कैसे सुझायें।...अभी तक वे लोग आपसे बातचीत करने के लिए रुके रहे।

"तो आपने मुझे बुला क्यों नहीं लिया?" हरी ने कह दिया।

बनवारी बोला—बुलाता कैसे? यहाँ आने पर जब देखा कि आप लेटे हुए हैं, तब ऐसा जान पड़ा कि आप सोने ही वाले हैं। इसीलिए मैंने उन लोगों से कह दिया कि अब तो वे लेट रहे; अब कल मुलाक़ात होगी।

"लेकिन मैं तो सबेरे ही चला जाऊँगा" हरी बोला।

बनवारी ने कहा—अभी कल कैसे जा सकेंगे? आये हैं, तो

दो-एक दिन तो रहिये। वे लोग जब सुनेंगे कि आप चले गये, तो कितने दुखी होंगे!

"क्या किया जाय भैया? आजकल के दिन ही ऐसे चल रहे हैं कि चाहते हुए भी कहीं अधिक ठहर नहीं पाता" हरी ने जब कहा तो बनवारी का सारा उत्साह ही जैसे फीका हो गया।

तब हरी सोचने लगा—ये सब के सब ग्रामवासी जागरण के नाम पर कैसे तैयार बैठे हैं! अभाव है केवल इनमें काम करनेवालों का। नगरों में निवास करनेवाले वे लोग, देश के उत्थान का भार अपने ही ऊपर अनुभव करने का जिन्हें शौक़ चर्राया करता है, यह जानते तक नहीं कि हमारे गाँव बाल-रवि के समान उदित होनेवाले स्वराज्य की ज्योति का स्वागत करने के लिए तैयार तो बैठे हैं, किन्तु उनकी भीतर-बाहर की समस्याएँ ऐसी कुटिल, दयनीय और परस्पर विरोधिनी हैं कि वे बेचारे एक मात्र पथ-दर्शक के बिना कुछ कर नहीं पाते। सत्ताधारियों का आतंकवाद उनमें इतना समाया हुआ है कि उनके भीतर का वह साहस क़रीब-क़रीब मर चुका है, जिसे अन्याय का विरोध करनेवाली मनुष्यता से नाम पर तो सदा जाग्रत रहना ही चाहिये।

बनवारी उसी समय भीतर से फिर लौटकर बोला—तो सचमुच आप सबेरे चले ही जायँगे?

हरी ने जवाब दिया—हाँ भैया, इस बार रुक न सकूँगा। लेकिन जब कभी इधर आने का अवसर मिला, तब यहाँ भी होता हुआ जाऊँगा; चाहे कुछ ही घंटों के लिए भले ही आऊँ!

"अच्छा, तब ठीक है। अब आप सोइये।" बनवारी कहकर भीतर चला गया।

नन्दा जब बड़ेभैया के यहाँ पहुँची, तो गिरधारीलाल भोजन कर चुके थे और मकान से लगी बैठक में लेटे हुए नाई से देह दबवा रहे थे। भीतर बड़ीबहू रसोईं घर में बैठी हुई खाना खा रही थीं। आहट पाकर बड़ीबहू ने पूछा—कौन है?

नन्दा बोली—मैं हूँ।

"तुम तो हो! लेकिन देवर को यहाँ न ठहराकर वहीं तुमने जिस मतलब से ठहराया है, उसकी कुछ हया-शरम भी तुमको है कि नहीं, यह मैं जानना चाहती हूँ। तुम रॉड़-बेवा लड़की हो, तुमको तो फूँक-फूँककर पैर रखना है। इतनी रात तक तुम जो किसी नौजवान से बातें करोगी, तो एक-न-एक दिन जब तुम्हारी आँखों पर से अपने धरम का पानी उतर जायगा, तब वैसी हालत में न चाहते हुए भी जो हो ही जाता है, उसको लेकर बैठोगी कहाँ?... कब से बैठी-बैठी मैं तुम्हारे आने की बाट देख रही हूँ, कुछ ख़बर है? खाना खाते-खाते ख़ुद उन्होंने कई बार पूछा कि बिट्टी आई नहीं अब तक!—आई नहीं अब तक!—मैं क्या जवाब देती? जो कुछ उल्टा-सीधा मेरे मन में आया, सो मैंने भी कहा।...अब ऐसी चुप क्यों हो? आओ, भोजन करो आकर।

नन्दा क्या करे? जगन्माता सीता होती, तो पृथ्वी भी अपनी छाती फाड़कर उसे धारण कर लेती, लेकिन वह सीता

तो है नहीं। और कौन जाने, यह पृथ्वी भी अभी तक वही है या यह भी बदल गई है। बात-बात पर इस अभागिनी को जब इस तरह की बातें निरन्तर सुननी पड़ती हों, तब वह कहाँ जाय और कैसे रहे ? माना कि वह ससुराल में रह सकती है। लेकिन जिस बात को सोचकर उसके भाइयों ने उसे वहाँ रहने नहीं दिया, उसके लिए वह क्या करे ? कौन जाने उन्होंने यही सोचा हो कि एक अविवाहित देवर के साथ उसकी नवविधवा भौजी का रहना ठीक नहीं है ! किन्तु जो स्त्री ऐसी कटुभाषिणी हो, इस सीमा तक जो स्वभाव की कर्कशा हो, उसके साथ उस जैसी ननँद का रहना भी कैसे सम्भव है ? इसी प्रकार के विचारों में डूबती-उतराती हुई नन्दा आगे चलकर जब सोचने लगी कि भौजी ने जो आशंका प्रकट की है, यदि वह भविष्य के आँगन में यथार्थ ही होकर रही, तो ? यकायक इस विचार-धारा में आकंठ मग्न होते ही नन्दा का अणु-अणु भीतर-ही-भीतर सती शंकरा की भाँति जल-जलकर भस्म होने लगा।

इसी समय बड़ीबहू ने कह दिया—आओ। भोजन करो आकर।

नन्दा छोटीबहू के साथ भोजन करके आयी थी। वहाँ भी भोजन करती हुई वह अपने सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें सोचती रही थी। वह जानती थी कि उसे आज की रात को भी बड़ीभौजी के यहाँ ही व्यतीत करना है। तब उसने यह भी सोच लिया था कि वे जब खाने के लिए कहेंगी, तब

उनकी इस बात के उत्तर में कहना ही पड़ेगा कि वह छोटीभौजी के घर से खा आयी है, पर इस समय जब वही बात उसके सामने आ गयी, तो पहले से स्थिर किया हुआ वही उत्तर आप-ही-आप इतना दुर्बल हो गया कि नन्दा किसी प्रकार उसे ग्रहण न कर सकी।

एक बात और थी। उस घर को छोड़कर, उस समय, नन्दा जो छोटीबहू के मना करने पर भी यहाँ चली ही आयी, इसका कारण था। वह बराबर अनुभव कर रही थी कि सर्प-दंश का विष जब शरीर-भर में फैल जाता है, तब वह शरीर जिस तरह मरने से पहले ही मरकर सर्वथा जीवन-हीन-सा हो उठता है, अपनी अन्तरात्मा में नन्दा भी वैसी ही हीन—नितान्त हीन—हो गई थी। जिस हरी को लेकर वह कभी-कभी अपनी व्यर्थता को भ्रम समझने का अनुभव करने लगती थी, उस समय छोटेभैया के कमरे में पड़ा हुआ वही हरी उसे काले नाग की भाँति, डस जाने के लिए, पीछा करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। बार-बार उसके मन में आता था कि वह भागकर आयी है—भागकर। किन्तु यह विचार भी ज्यों ही उसके मन में एक बार जग पाता, त्योंही उसी क्षण, वह अपने आप से ही पूछने लगती थी—ऐसा ही था, तो उसी समय क्यों नहीं भाग खड़ी हुई थी? यह अहंकार और उत्तेजना, यह जागरूकता, उस समय कहाँ जाकर सो रही थी?

इन्हीं विचारों को लेकर बड़ीभौजी के इस कथन के एक-एक वाक्य ने सामर्थ्यभर फैल-फैलकर उसे इतना आत्मदग्ध बना डाला कि वह आप ही आप रो पड़ी!

ननँद का रोना सुनकर बड़ीबहू बोलीं—रोओ, चाहो गाओ। मेरे साथ रहोगी, तो भली-बुरी बातें तुम्हें सुननी ही पड़ेंगी। मैंन कोई बात झूठ कही हो, तो उसको काट दो और मुझे समझा दो कि वह इस तरह झूठ है। लेकिन जैसी जो बात है, उसे उस तरह कहना तो पड़ेगा ही। बिना कहे कैसे पार लगेगी? बात चाहे जैसी हो, घर-गृहस्थी में कहनी तो पड़ती ही है।

बरामदे के भीतर की ओर जाती हुई नन्दा बड़ीबहू की बात सुनकर बीच में ही देहली पर बैठ गयी थी। थोड़ी देर में जब बड़ीबहू भोजन करके उठने ही वाली थीं; तब हठपूर्वक कुछ स्थिर होकर वह अपने सोने के कमरे में आकर चारपाई पर लेट रही।

उस समय नन्दा लेट तो रही, किन्तु बड़ी रात तक उसको नींद नहीं आयी। पानी बरसना कभी घड़ी-आध-घड़ी को बन्द हो जाता, कभी थोड़ी देर बाद वह फिर खूब ज़ोर से बरसने लगता। नन्दा के मन में आया—पानी जब बरसने को होता है, तब बरसता ही है; रोके रुकता नहीं। कोई चाहे भी कि न बरसे, तो भी वह बरसता ही है; क्योंकि बरसना उसका गुण है। गुण इस अर्थ में कि उसका वह नित्य कर्म है। उसी को लेकर उसका अस्तित्व है। किन्तु हिन्दू-समाज की विधवा नारी होकर भी मृत्तिका है; पाषाण है, शिलाखंड की भाँति उसे शब्दहीन, गतिहीन, निस्पन्द, निश्चल और निश्चेष्ट होकर रहना है। जगत् भर के लिए वर्षा और वसन्त, कोयल और मोर

पुष्प और सौरभ, भ्रमर और तितली, ध्वनि और राग, सरोवर और हंस, कपोत और कपोती, हास और क्रीड़ा सभी जाग्रत और उत्फुल्ल हैं; किन्तु एक विधवा प्राण, देह, वय, श्वास, रक्त, कांक्षा और विकार रखते हुए भी इन सब से हीन है, सर्वथा रहित। क्योंकि संयम, नियम, आदर्श, उपासना, तपस्या, साधना, त्याग और बलिदान आदि हिन्दू-संस्कृति के गर्व तथा गौरव की जितनी भी दिगन्तव्यापी ध्वजाएँ हैं, सब की सब उसी के भाग में पड़ी हैं।

रात के एक बजने का समय है। अड़तिस वर्ष की अवस्था का गिरधारीलाल अपनी उन्नीस वर्ष की द्वितीय नवभार्या में एकाकार होकर हिन्दूसमाज में आदर्श पुरुष है और अठारह वर्ष की जन्मजात विधवा नन्दा पिपासा-पीड़ित कुछ क्षणों के अकल्पित, अचेतन आचार में महापतित—सर्वथा अग्राह्य!

"लोग कहते हैं—तुम अन्तर्य्यामी हो, विकार-हीन न्यायाधीश हो। तो हे जगन्नियन्ता! बताओ! बताओ प्रभुवर!! क्या मैं ही कलुषित हूँ—पतिता हूँ? और ये—ये सब-के-सब पूतात्मा हैं, पुरुषोत्तम हैं," मन-ही-मन इन्हीं भावों को धारण करती, करवँट बदल-बदलकर शीतल निःश्वास लेती और कभी-कभी सिसकियाँ भर भरकर रोती हुई नन्दा बड़ी रात तक सो न सकी।

इस रात के बाद ऐसी ही और भी मालूम नहीं कितनी रातें आयी और गयीं। काल के विकल्प-हीन आवर्तन में उनकी गणना क्या?

× × ×

दस जुलाई को किसी मुक़दमें की तारीख़ भी है, मुंशी कालकाप्रसाद के सिवा इस बात को कोई न जानता था। यहाँ तक कि माँ को भी हरी ने यह संवाद नहीं दिया था। चलते समय मुंशीजी ने ख़ुद भी साथ में चलना चाहा, किन्तु हरी ने निर्द्वन्द्व भाव से मुंशीजी के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसने कहा—इसमें इतनी चिन्ता करने की क्या ज़रूरत है ? जो कुछ भी होगा, देखा जायगा।

"चिन्ता की बात नहीं है, और है भी; पहले से कोई कह ही क्या सकता है ? यह मैं मानता हूँ कि पैरवी में आप किसी तरह पीछे न रहेंगे। और वकील तो अपने अच्छे हैं ही; किन्तु मेरे साथ चलने से आपको कुछ सहूलियत होती, यही सोचकर मैंने साथ चलने की बात कही थी।" मुंशीजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

तुरन्त हरी ने जवाब दिया—लेकिन माँ को कैसे मनाऊँगा ? वे कभी न मानेंगी। बराबर यही पूछेंगी, शंका करके व्यथित होंगी कि बात कुछ और है; तुम उसे छिपा रहे हो। नहीं तो दोनों-के-दोनों कभी बाहर न जाते। कचहरी का कुल काम तो मुंशी जी ही करते आये हैं, फिर दोनों ही आदमियों के जाने की ऐसी क्या ख़ास ज़रूरत पड़ गयी ? उनकी इन बातों का क्या उत्तर दोगे, मुंशीजी ?

मुंशीजी के मन में आया कि उन्हें क्या यह समझाया नहीं जा सकता कि ऐसा ही एक पेचीला मामला आगया है, जिसमें इनकी भी ज़रूरत आ पड़ी है। किन्तु फिर यही सोचकर मुंशीजी चुप हो रहे कि ऐसा उत्तर देने पर फिर उस पेचीले मसले का भेद भी तो खोलना पड़ेगा।

इस तरह हरी अकेला ही चला गया था।

इटावा पहुँचकर पांडेय कमलाकर वकील के यहाँ जाने पर वीरेन्द्र और सहदेवमामा भी वहीं बैठे मिल गये। दोनों ने उठकर हरी का अभिवादन किया। वकील साहब उस समय अन्दर से निकले नहीं थे। वीरेन्द्र ने एक क्षण का भी विलम्ब न लेकर कहा—जान पड़ता है, केदार को अभी तक मालूम नहीं हो सका।

सहदेव मामा बोले—मालूम कैसे होता! इतना समय ही कहाँ था कि उससे मिला जा सकता। चिट्ठी डाल दी थी, अब तक मिली होगी। कल तारीख़ के दिन तक आसकेगा तो बिना आये न रहेगा।

वीरेन्द्र बोला—इसका मुझे पक्का विश्वास है। ख़ैर, मुझे इस समय उसकी प्रतीक्षा नहीं करनी है। मामला शान के साथ लड़ा जायगा।

इसी समय वकील साहब परदे की ओट से निकलकर टेबिल से लगी कुरसी पर आसीन हो गये। हरी को देखकर बोले—आप ही का इन्तिज़ार ये लोग कर रहे थे। वीरेन्द्रजी तो

कल ही शाम को आकर मिल गये थे।...अब बतलाइये, आप लोगों को क्या-क्या कहना है ?

वीरेन्द्र बोला—मैं तो तीन ऐसी पक्की गवाहियाँ दिलवाऊँगा कि बच्चू को लेने के देने पड़ जायँगे। मैं यह साबित कर दूँगा कि यह आदमी दरअसल जात का धोबी है। मुझे किसी तरह का भ्रम नहीं हुआ है।

सहदेव मामा बोले—इसके सिवा, मेरे पास भी कहने के लिये और है ही क्या ?

हरी ने कहा—आप लोग चाहे जो कुछ कहिये—मेरा उससे कोई मतलब नहीं है। मैं तो अपनी बात पर ही स्थिर रहूँगा। मैं यह स्वीकार कर लूँगा कि उस समय उसे वास्तव में धोबी मानने या न मानने, उसकी असलियत की छानबीन करने का मेरे सामने कोई प्रश्न ही न था। उस आदमी ने हमारे एक समूह-गत संस्कार में विघ्न उपस्थित करके उसे भंग करने की चेष्टा की थी, उससे उत्तेजित होकर, समाज के आगे उसे शर्मिन्दा करके भविष्य के लिए सावधान करने के अभिप्राय से, मैंने वीरेन्द्र के कार्य का समर्थन किया था। मैंने कहा था कि जो आदमी वास्तव में अपने हीन आचार के कारण समाज के आगे सिर उठाकर चलने योग्य भी नहीं है, वही जब अपने आप एक सामाजिक व्यवस्था देने का अधिकारी बन बैठा है, तब उसकी इस कुटिल नीति को मैं सहन न कर सका। मैं स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार करूँगा कि मैंने कहा है कि ऐसे आदमी का तो मुँह तक न देखना

चाहिये। क्योंकि जगत्वन्द्य ग्रन्थ रामायण तक में लिखा है—अनुजबधू भगिनी सुतनारी, सुनु सठ ये कन्या सम चारी। इन्हें कुदृष्टि बिलोके जोई—ताहिबधे कछु पाप न होई।

रह गयी बात यह सिद्ध करने की कि यह आदमी वास्तव में आचार-हीन है, मैं उसी के पास के गाँवों की ऐसी गवाहियाँ दिलवाऊँगा, जिनसे यह प्रमाणित हो जायगा कि यह आदमी अपनी छोटी विधवा भावज से पत्नी का सम्बन्ध रखता है।

वकील साहब मुसकराते हुए बोले—मामला बड़ा मज़ेदार है। खूब चलेगा! लेकिन एक बात मैं कह देना चाहता हूँ कि अगर आप यह साबित न कर सके कि वह आदमी आचार-हीन है, तो आप का यह दूसरा Crime (अपराध) होगा। क्योंकि इस प्रकार आप एक विधवा नारी का भी अपमान करेंगे! इस तरह एक अपराध से बचाव करने में आप उससे भी भयंकर दूसरा अपराध कर बैठेंगे!

तब "एक विधवा नारी का अपमान!—उसे कलंकित बतलाने का अपराध!" इन में दो भयंकर वाक्यों ने हरी के विचाराकाश में आवर्तित हो होकर उसे इतना चिन्तातुर बना डाला कि निमेष-मात्र में उसका दमकता हुआ मुख एकदम से म्लान पड़ गया। क्षीण, विकल स्वर में उसने कह दिया—तब यह बात न कहूँगा।

वकील साहब बोले—हाँ, आपका वह पहला Defence ही ठीक है कि एक Communal Ceremoney में विघ्न डालने

से उत्तेजित होकर आपने वीरेन्द्र की बात का समर्थन किया और उसमें इस तरह की बातें कहीं। रह गयी बात यह Prove करने की कि वह आचार-हीन है, सो उसके लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि गाँव का हरएक आदमी इससे वाकिफ़ है। ज़रूरत पड़ने पर दस-बीस गवाह तक दिये जा सकते हैं। लेकिन रामायण की उस चौपाई का पढ़ना ठीक न होगा; क्योंकि वह बड़ी भयंकर है, उस प्रकार की आचार-हीनता साबित करने में आप फिर दूसरा अपराध कर बैठते हैं।

वीरेन्द्र की ओर दृष्टि डालकर पांडेयजी बोले—आप अपने गवाहों से यह कहलाइये कि बिल्कुल इसी तरह का आदमी हमारे होस्टल में धोबी था। हर प्रकार से इसी शक्ल का, कानों में सोने की लुरकी पहन लेने भर की कमी थी! हमारा इरादा उसे अपमानित करने का न था, बल्कि अपने समाज से एक सच्ची बात के प्रकट करने का था।...सहदेव पंडित भी यही कहेंगे।

इसके सिवा वर और कन्या-पक्ष के कुछ Responsible आदमियों की ऐसी गवाहियाँ भी निहायत Necessary हैं, जिनमें यह Prove किया जाय कि इस आदमी ने बरातियों में परस्पर इतना विरोध उत्पन्न कर दिया था कि उस दिन केदार के यहाँ सौ आदमी के बजाय चालिस आदमी ही खाने के लिए गये। इस तरह दोनों पक्ष की बड़ी अप्रतिष्ठा हुई।

दूसरे दिन मामला जब पेश हुआ तो गोकुलचन्द के वकील मिस्टर गंगोली ने अपने पक्ष के गवाहों के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वीरेन्द्र, सहदेव और हरिनाम ने पहले से निर्धारित करके इस काण्ड की रचना की थी। कोई भी आदमी उसी समय आकस्मिक भावावेश में नहीं आया था। रामायण की उस चौपाई का अर्थ समझाकर उसने बतलाया कि उससे जनता में इतनी अधिक उत्तेजना फैल गई थी कि उसका परिणाम Murder तक हो सकता था; क्योंकि उसमें साफ़ तौर से आया है कि ताहि बधे कछु पाप न होई।

मिस्टर गंगोली ने यह भी बतलाया कि अपराधी की बातों का लोगों पर इतना ज्यादा असर हुआ कि भरी जमात में उसका पक्ष लेकर एक बात तक कहनेवाला कोई आदमी न रह गया। चारों ओर उसकी बदनामी फैल गयी—दस-दस पाँच-पाँच लड़के इकट्ठे हो-होकर यह कहकर, ताली बजाकर उसे ज़लील करने लगे कि—धोबी है—धोबी है!

अन्त में प्रतिवादी पक्ष की गवाहियों के लिए अगली तारीख़ १८ के लिए पेशी स्थगित कर दी गई।

× × ×

उस दिन मुक़दमें के इस काम से छुट्टी पाकर हरी...बोर्डिंग में रामगोपाल से भी मिलने गया। गाँव की दलबन्दी और उससे उत्पन्न ज़ोर-ज़ुल्म की चर्चा करने के बाद उसने अपने सम्बन्ध

की बातें बतलाते हुए कहा—मैं इस समय अनेक ऐसी आशंकाओं से घिरा हुआ हूँ कि किसी भी वक्त मेरी भी सारी ज़िम्मेदारियाँ तुम्हारे ही ऊपर आ सकती हैं। बड़ेभैया सीधी तरह से रास्ते पर आ नहीं सकते। रियासत को कोर्ट कर देने की, केवल तुम्हारी दरख्वास्त, काफ़ी नहीं है; भौजाई और बच्चों की ओर से एक दूसरी दरख्वास्त भी लगनी चाहिये। जल्दी-से-जल्दी इस काम को कर डालो; बल्कि आज ही चले जाओ।...

रामगोपाल ने हरी को देखकर और फिर उसकी इन बातों को सुनकर कहा—किन्तु आज मैं आपको इस तरह बदला हुआ क्यों देख रहा हूँ? जो आदमी बड़े-से-बड़े संकट के अवसर पर कभी अधीर नहीं हुआ, वह इन मामूली-सी बातों पर इतना परेशान नज़र आये, यह बात कुछ समझ में नहीं आती।

"तुम्हारा सोचना ठीक है रामगोपाल। लेकिन मैं इस समय कुछ और सोचता हूँ। मैं सोचता हूँ कि एक हमारा ही नहीं, भाई-भाई के इस गृह-युद्ध ने तो हमारे देश को भी इस अधोगति तक पहुँचा दिया है! आज भी इस गुलाम देश में, इसके गाँव-गाँव और नगर-नगर में, गृह-युद्ध उसी गति से चल रहा है! तुम अभी छोटे हो रामगोपाल, लेकिन ऐसे नादान नहीं हो कि इस ज़रासी बात के तत्व को ग्रहण न कर सको। तुम टेंथ क्लास के विद्यार्थी हो, तुम इतिहास पढ़ रहे हो। तुमको मालूम होना चाहिये कि हमारी इस सारी बरबादी का एक मात्र कारण हमारे घर का कलह है।...मानहानि का यह अभियोग जो मुझपर

चलाया गया है, इसके भीतर भी बड़ेभैया का मुख्य हाथ है। अच्छा है रामगोपाल भाई, आज नहीं, लेकिन एक दिन ऐसा ज़रूर आयेगा, जब बड़ेभैया की संतान इस बात को जानकर ख़ून के आंसुओं से रोयेगी कि मुझ जैसे व्यक्ति की उनके पूर्वजों ने कितनी क़द्र की! मैं युद्ध से भागनेवाला आदमी नहीं हूँ। ज़र, ज़मीन का मोह भी मुझे नहीं है। मेरे आगे बैठा ही कौन है? एक बार इसी मुक़दमें में, गोकुलचन्द और उनके पृष्ठ-पोषक बड़े-भैयाजी, दोनों को मालूम हुए बिना न रहेगा कि मैं क्या चीज़ हूँ।

हाँ, एक बात—केवल एक बात मैं और साफ़ कर देना चाहता हूँ। कभी अपने मन में इस तरह की कल्पना को स्थान ग्रहण न करने देना कि मैं तुमको तुम्हारे अग्रज से फोड़ रहा हूँ। तुम मुझे मानते हो, इसलिए मैं तुम्हें तुम्हारा उचित पथ बतलाता रहता हूँ; क्योंकि मैं समझता हूँ कि शिक्षा की किरणों ने अबतक तुम्हारे हृदय में कहीं भी अँधेरा नहीं रहने दिया होगा। मैं तो सत्य और न्याय को मानता हूँ, उसी के आगे सदा मेरा सिर झुका है—आगे भी झुकेगा। इसीलिए मैंने तुम्हें, जो कुछ मुझसे हो सका, बतलाया और सुझाया। सम्भव है, निकट भविष्य में तुम्हें कुछ काल तक ऐसा अवसर न भी मिले। उस समय तुम घबराना नहीं, ख़ूब सावधानी के साथ, सोच समझकर चलना।

रामगोपाल को साथ लेकर बोर्डिंग से सड़क के लारी-स्टैण्ड तक आते हुए रास्ते में बातें करते हुए हरी यही सब कहता गया।

रामगोपाल को बात कहने का उसने अवसर ही नहीं दिया। उधर रामगोपाल उसी की प्रतीक्षा में था। उसने पूछा—तो भौजी की ओर से जो दरख़्वास्त दी जायगी, उसका मज़मून क्या होगा ?

हरी ने कहा—अरे पागल, मैंने अभी तुझे जो कुछ बतलाया, उसे क्या भूल ही गया ? हमारे वकील कमलाकरजी पांडेय किस लिए हैं। इन सब बातों में उन्हीं से मदद लेना। मैंने उन्हें सारी परिस्थिति बतला दी है।

लारीस्टैण्ड आ गया था। हरी बोला—अब तुम जाओ।

हरी के चरण स्पर्श करके रामगोपाल लौट गया।

× × ×

जब हरी अपने घर पहुँचा, तो सबसे पहले उसे मुंशीजी से ही भेंट हुई। कुशलक्षेम के समाचार पूछने पर मुंशीजी ने बतलाया कि और तो कोई ख़ास बात नहीं हुई, लेकिन गाँवभर में यह समाचार ख़ूब ज़ोर के साथ फैल गया है कि छोटेभैया पर गोकुलचन्द ने हतक़-इज़्ज़ती का एक ऐसा मामला दायर कर दिया है, जिसमें उन्हें निश्चय सज़ा हो जायगी।

थोड़ा हँसते हुए हरी ने कह दिया—बस इतना ही न, या और भी कुछ ?

मुंशीजी हरी का यह प्रश्न सुनकर अवाक् रह गये !

हरी भीतर गया, तो अम्मा ने देखते ही घबड़ाकर पूछा—क्या हुआ हरी ? मुक़दमे में हुआ क्या ?···तूने जो बात इतनी

छिपाकर रक्खी, यहाँ गाँव का बच्चा-बच्चा उसे जानता है ! अरे ! तू हँस रहा है ! जीत गया कि नहीं, सच बता।

अम्मा ने अपनी बात उसी समय से शुरू कर करदी थी, जब हरी ने उसके पैर छुए थे। उत्तर में टहलते हुए उसने कहा—जीतना तो है ही अम्मा। उसमें रक्खा क्या है ? लेकिन ऐसी जल्दी तो निपटेगा नहीं। अभी तो शुरू हुआ है, तारीख़ बढ़ गयी है। और भी अनेक पेशियाँ होंगी। ऐसी आसानी से तो निपटेगा नहीं। हाँ, यह निश्चय है कि उसमें कुछ है नहीं। कोशिश-पैरवी के लिए मुझे कल ही चला जाना पड़ेगा। केदार के यहाँ जाना है और चन्द्रमुखी के ससुरे में भी। लेकिन तुम चिन्ता न करना अम्मा। ज़रा भी न घबड़ाना। कोई मेरा बाल भी बाँका न कर पायेगा। रहा गोकुलचन्द। एक इशारे से ही उसकी कथा समाप्त हो सकती है। लेकिन मैं ऐसा चाहता नहीं। एक बात और है। इस मुक़दमें के चलवाने में बड़ेभैया का भी पूरा हाथ है। उस दिन मालूम नहीं किस तरह पता लगाकर .ख़ुद राधेलाल मुझसे कह गया था !···रास्ते में मुलुवा मुझे मिल गया था। कहीं किसी रिश्तेदारी में गया है। कहता था—सरकार का इशारा भर पा जाऊँ, तो उस गोकुलचन्द की नाक ही काट लूँ, अस्तुरे से। बहुत होगा, सज़ा हो जायगी। लेकिन अपने किये का फल तो उसे मिल जायगा।···मतलब यह कि तुम चिन्ता न करना किसी बात की, ज़रा भी, ज़रा भी।···और एक बात है अम्मा। मुझे डर सिर्फ़ एक बात का है। कभी-कभी मैं उससे

जरूर चिन्तित हो उठता हूँ। इन सब बातों का फल क्या होगा, जानती हो! एक-न-एक दिन या तो इस गाँव में लाठी चटक जायगी—या फिर बड़ेभैया का वह ज़ालिम मुंशी, जो उनकी नाक का बाल हो रहा है, उसी की जान पर बीतेगी। लोगों को मैं कहाँ तक समझाऊँगा। ज़ुल्म सहने की एक सीमा होती है। जब लोग उसे सहन नहीं कर सकते, तो एक दिन आता है, जब वे किसी के मना करने पर भी नहीं मानते।—और असल बात यह है कि.....।

अम्मा, हरी को और अधिक बातें कहने का अवसर न देकर बोलीं—अच्छ-अच्छा, सब सुन लिया। समझ लिया कि तू बड़ा भारी नेता हो गया है, बहुतेरे लोग तेरी मुट्ठी में हैं, लेकिन अपने को इससे क्या? इस साल जैसे बनेगा, मैं तेरा विवाह कर डालूँगी। चाहे जो हो, मैं किसी तरह न मानूँगी। मुझसे अब और नहीं सहा जाता!

"अच्छा अम्मा, अगर मैं विधवा-विवाह करलूँ, तो कैसा हो!" बिहँसते हुए हरी ने कहा।

"पागल कहीं का! ऐसा भी कोई सोचता है! क्या तेरे लिए लड़कियों का ऐसा अकाल पड़ गया है?"

"अकाल की बात नहीं है अम्मा। मैंने यों ही एक बात कही। किन्तु एकाएक मेरी बात सुनकर तुम तो चौंक पड़ीं! कैसी अच्छी बात मैंने कही, इस पर विचार नहीं किया!"

"ऐसा कैसे हो सकता है ?···किसी तरह ऐसा नहीं हो सकता हरी। विधवा देवी होती है, तपस्विनी। देखते नहीं हो, राधा बाल-विधवा है। उसने पति का मुँह तक नहीं देखा था। किस तरह अपनी ज़िन्दगी पार कर दी! कोई आँख उठाकर भी उसकी ओर कभी देख न सका! आज राधा के बाल सन हो गये हैं। अस्सी बरस की हो गई। जिस बच्चे को छूकर आशीर्वाद दे देती है, वही बीमारी से उठकर भला-चङ्गा हो जाता है!···आज कहा सो कहा, फिर कभी ऐसी बात न कहना हरी।"

हरी अस्थिर हो गया। एक ठंडी साँस लेकर, बड़ी कठोरता से अपने को संयत रखकर बोला—लेकिन ऐसी कितनी विधवाएँ मिलेंगी आजकल ?

अम्मा ने तेज़ी के साथ कहा—हज़ारों में, लाखों में, एक सही। लेकिन इससे क्या ? मैं तो उस धर्म की बात कहती हूँ, जो हमारा है। कोई उसको नहीं मानता, उसपर नहीं चलता, या मान लो कि दुनियाँ नहीं चलती, तो इससे क्या हुआ ? जो उचित है, मैं तो उसकी बात कहती हूँ।...झट से नहाकर पूजा करले। तब तक मैं चार पूड़ी बनाये लेती हूँ। कल की बनी हुई रखी थीं। वहीं सेंक-साँक कर मैंने खा ली थीं। मुंशीजी से मालूम हो गया था कि तू आज ज़रूर आ जायगा। इसी से मैंने सोचा—जब तू आयेगा, तभी ताज़ी बनाऊंगी।

हरी नहाने चला। चला तो नहाने, लेकिन सोचता यही रहा—"मैं तो उस धर्म की बात कहती हूँ, जो हमारा है!"

"तो क्या वह अपने धर्म से गिर गया है ? क्या उसने पाप किया है ? क्या उसने अधर्म का आलिंगन किया है ?—"राधा के बाल सन हो गये हैं। अस्सी बरस की वह हो गई है। कोई आँख उठाकर भी उसकी ओर देख नहीं सका।"···"विधवा देवी होती—तपस्विनी।" ऐसी विधवा को वह पतन की ओर ले गया है ! उसने, उस रात में, उस अवसर पर, कहा था—"यह तुमने क्या किया हरी ?--तुमको हो क्या गया ?" तो यह हरी ही पापी है ! उसीने उस देवी को पाप के पङ्क में डाला है ! उसे स्मरण हो आया कि उस दिन भी उसने कहा था--"जो लोग आज एक बात को ज्ञान या अज्ञान में, सोच-समझकर या बिना सोचे हुए ही, कह डालते और कल उसे 'भूल' कहकर अलग जा खड़े होते हैं, वे यह बिल्कुल नहीं सोचते कि उनके इस अनिश्चित स्वरूप के कारण कितनी निर्मल और निर्दोष भावनाओं की हत्या हो जाया करती है।" तो वह निर्मल और निर्दोष थी। मैंने ही उसका मुँह काला किया है ! उफ़ !—पापी हरी !--अन्धा हरी !--पतित हरी !—पशु हरी !—यही वाक्य उसके मन-मानस पर तैरते रहे।

नहाकर भगवान का नामस्मरण और गायित्री मंत्र का जाप करके उसने भोजन तो किया, लेकिन प्रत्येक घड़ी वह अभिभूत बना रहा। अम्मा ने टोंका, तू इतना गम्भीर क्यों होता जा रहा है ? बहू आयेगी, तो मुझसे शिकायत किया करेगी। कहेगी—अम्मा, कैसे हैं ये तुम्हारे लल्ला ? तब मैं उससे क्या कहूँगी ?

उत्तर रूप में "क्या वह कभी आयेगी ?" अपने आप सोचते हुए उसके हृदय में इस ओर से उस ओर तक बाण-सा पार कर गया। अम्मा को देखते-देखते उसकी आँखें भर आयीं; तब एक ओर घूमकर उसने आँखें पोंछ डालीं।

खाना खाकर बैठक में वह आया ही था कि कई आदमी उससे मिलने आ गये। देर तक वह उनसे बातचीत करता रहा।

कई व्यक्ति बहुत उत्तेजित होकर आये थे। राजाराम ने कहा—एक दिन बातों-बातों में आपने ही कहा था—जनता की उत्तेजना को सदा दबाये रखना उसकी उस स्वाभाविक वीरता और साहस की भावना को नष्ट करना है, जो समाज के संगठन का प्राण है।

बलदेव ने कहा—आज हम लोग यह सोचकर आये हैं कि आप हमें केवल इस बात की इजाज़त दे दें कि अगर कोई आदमी हमको माँ-बहिन की गाली भी दे, तो हम उसके मुँह पर तुरन्त थप्पड़ जमा दें। फिर आगे चाहे जो हो जाय, हमें इसकी परवा नहीं है। निरन्तर गाली, फटकार सहते-सहते मेरी आत्मा मरी जा रही है। मुझसे रहा नहीं जाता।

राधेलाल बोला—आप हम लोगों को चाहे जितना शांत करने की चेष्टा करें, लेकिन गुलामी से भरे अपमान की ज़िन्दगी बिताते-बिताते जिनके हृदय जलन से छलनी हो गये हैं, जिनके भीतर के दर्द का फोड़ा पकने पर आगया है, वे किस तरह

मानेंगे ? उनका वह फोड़ा तो एक-न-एक दिन फूटे बिना किसी तरह नहीं मानेगा न।

दीना कहने लगा—लगान मैं बेबाक़ कर चुका हूँ। उसके बाद मेरे यहाँ से पाँच सेर घी जा चुका है। उसका रुपया मुझे नहीं दिया जाता। मैं तीन बार वापस आ चुका हूँ। मैं जानता हूँ, आज भी मेरे रुपये वहाँ नहीं मिलेंगे—आज भी और वह मैनेजर मुझे दुतकारेगा ! तो छोटेभैया, मैं इन चरणों को छूकर कहता हूँ, मुझसे सहन न होगा। मेरी घरवाली के बदन पर गहने की जगह एक छल्ला नहीं रह गया है। मेरी ज़िन्दगी का यह अन्तिम समय चल रहा है। मरना एक दिन है ही। इसी-लिए मैंने यह तै कर लिया है कि मैं जान पर खेल जाऊँगा।

रामबली ने कहा—छोटेभैया, मैं आपही की सलाह से आदमी बना हूँ। आपके अहसानों का बोझ कैसे उतारूँगा ! मैंने यह तै कर लिया है कि अगर आपको कुछ भी हो गया, तो इस गोकुलचन्द का नाम इस दुनियाँ से उठ जायगा।

हरी ने सब लोगों को एक साथ उत्तर देते हुए कहा—आप लोग जहाँ तक हो सके, शांत रहें और इस बात का विश्वास रक्खें कि हम जो कुछ भी करते हैं, अपना कर्तव्य जानकर करते हैं। अपने भीतर के विश्वास को कभी आप धोखा न दें। अपने कर्तव्य से आप कभी बहक न जायँ, इतना डर आप में हमेशा रहना चाहिये। रह गयी बात भविष्य के फल की। सो इस विषय में मेरा अपना तो विश्वास यह है कि उस फल से

लटके रहकर हम कुछ कर नहीं सकते। जो कुछ भी हम करते हैं, कर्तव्य समझकर अपनी इच्छा-शक्ति से करते हैं। फल क्या मिलेगा, हम सोचते भले ही रहें, उद्योग भी चाहे जैसा किया करें; क्योंकि वही तो कर्तव्य है; पर फल देनेवाला कोई और है। किसी को भी उसके कर्म का फल देनेवाले हम कोई नहीं होते। फल तो वही दे सकता है, जो हम सब का एक मात्र न्यायाधीश है। रह गया मैं। सो मैं आपही सजग हूँ। एक तो मेरा कुछ अनिष्ट होगा नहीं। और मान लो, किसी-न-किसी प्रकार मैं काल-चक्र के घेरे पर आही जाऊँ, तो भी आप लोग मेरे नाम पर किसी भी तरह का ऐसा काम न करें, जो भविष्य में आपके या आपकी संतान के लिए चिन्ता का कारण बने।

हरी के इस उत्तर को सुनकर लोग सन्न रह गये। किसी के भी मुँह से कुछ नहीं निकला। तदनन्तर साधारण वार्तालाप के बाद एक-एक करके सभी लोग चले आये। हरी भी आराम करने के लिए पलँग पर लेट रहा।

दिन जाते कहीं देर लगती। तारीख़ अठारह भी आ गई।

ज्वाइन्ट मैजिस्ट्रेट गिलबर्ट साहब के कोर्ट में उस दिन बड़ी भीड़-भाड़ थी। कई गावों के आदमी इस मुक़दमे को देखने-सुनने के लिये आये थे। लोग आपस में अनेक प्रकार की बातें करते थे। सब के मुँह पर उत्सुकता, कुतूहल के भाव झलक रहे थे। वीरेन्द्र कहता था—आज गोकुलचन्द को मालूम हो जायगा कि मैं क्या हूँ।

केदार का मुख उतरा हुआ था। वह कहना चाहता था कि 'सोच-समझकर काम न करने का यही फल होता है। मैंने तो स्पष्ट रूप से कह दिया था कि इस मामले को खूब सोच लो। कहीं ऐसा न हो कि फिर हम लोगों के वश के बाहर की बात हो जाय। आज वही बात सामने आयी।' बार-बार केदार के मन में आता था कि उसको इस बात के कहने का यही अवसर है; किन्तु फिर यही सोचकर वह मौन ही रहना चाहता था कि यह कहने की बात कहाँ है? कहने से तो यह आघात करने-वाली—हिंसक—हो जाती है। असल में यह तो एकमात्र अनुभव करने की बात है!...

हरी के मुख पर उल्लास था। वह अपने वृन्द के लोगों से हँसहँसकर बातें करता था।...

कृष्णगोपाल आज भी उपस्थित न था। उसके मन का पाप उसे गाँव से खिसकने न देता था।

सब लोगों की दृष्टि हरी और गोकुलचन्द के मुख पर लगी हुई थी। और गोकुलचन्द देखने को कभी-कभी प्रसन्न देख पड़ता था, पर भीतर से वह कम आतंकित न था। वह सोचता, प्रायः अगर पाँसा पलट गया, तो?

साहब आ चुके थे और कुछ कागजों पर हस्ताक्षर कर रहे थे। लगभग ग्यारह बजे कार्रवाई शुरू हुई। मुक़दमे से जिन

लोगों का घनिष्ट सम्बन्ध था, उन लोगों को छोड़कर शेष सभी लोग कोर्ट से बाहर कर दिये गये।

हरी का प्रकृत उत्फुल्ल मुख अतिशय गम्भीर हो रहा था। गिलबर्ट साहब के प्रश्नों का उत्तर देते हुए उसने कहा—मैंने अपराध किया है। मैं उसे स्वीकार करता हूँ। वीरेन्द्र और सहदेव—दोनों का इसमें कोई दोष नहीं है। मैंने ही उन्हें ऐसा कहने के लिए भड़काया था। मैंने ऐसा काम इस अभिप्राय से नहीं किया कि मैं उससे कोई दुश्मनी रखता था। मेरा ऐसा विश्वास रहा है कि यह आदमी बड़ा नीच और गिरा हुआ है। इसको सामाजिक व्यवस्था में हाथ डालने का कोई अधिकार नहीं था। फिर भी इसने बरात में विरोध उत्पन्न किया। विवाहादिसंस्कारों के अवसर पर हम लोगों के यहाँ काफ़ी जमाव हुआ करता है। एकत्रित आदमियों में से अगर कुछ थोड़े लोग भी किसी कारण से उठकर चल देते हैं, तो यह बात दोनों ही पक्ष के लिए अपमान-जनक होती है। गोकुलचन्द ने ऐसा ही अवसर लाने की चेष्टा की थी। इसी कारण मुझे क्रोध आगया। मैं अपने को सम्हाल न सका। मुझे पाखंडी आदमियों से बड़ी चिढ़ है। अपने गिरे हुए आचार के कारण जिस आदमी की समाज में कोई हैसियत न होनी चाहिए, वही जब हमारे सामने नेता, उपदेशक या हमारा अगुआ बनकर आता है, तब मुझे बुरा लगता है। मैं समझता हूँ, यह स्वाभाविक बात है। फिर भी मैं यह मानता हूँ कि मैंने इसको बेइज्ज़त करने का अपराध किया है।

लोगों ने एकबार गोकुलचन्द की ओर, दूसरी बार हरी की ओर देखा। गोकुलचन्द का मुख उतर गया था। ऐसा जान पड़ता था, मानो उसके मुख पर स्याही पुत गई हो। हरी की मुद्रा उल्लास से इतनी दमकने लगी थी कि वहाँ उपस्थित लोग उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

गिलबर्ट साहब ने कहा—अब और एवीडेन्स की ज़रूरत नहीं है। मुजरिम का बयान ही काफ़ी है। फिर उसने हरिनाम की ओर संकेत करते हुए कहा—वेल मिस्टर हरिनाम, मुझे यह मालूम होगया कि तुमने बिल्कुल सच-सच कह दिया है। तुमने जुर्म क़बूल किया है। फिरभी बजाय एक साल के, मैं तुमको सिर्फ़ आठ महीने की मामूली सज़ा देने का हुक्म देता हूँ। तुमने एक नाजायज़ बात के खिलाफ़, जोश में आकर, ऐसा क़सूर, किया है। इसीलिये तुम्हारी सज़ा को कम किया जाता है। वीरेन्द्र और सहदेव को ५०) और १०) रुपये का जुरमाना देना होगा। दोनों आदमी जुरमाना दे सकता है। न देने पर एक-एक महीने की सज़ा।

केदार, वीरेन्द्र, सहदेव, रामगोपाल तथा मुंशी कालकाप्रसाद आदि सब ने हरी से अपील करने के लिए कहा। खुद वकील ने भी समझाया; लेकिन हरी ने यही उत्तर दिया—मैं अपना कर्तव्य खूब समझता हूँ। जब मैंने अपराध किया है, तो मुझे उसका दंड भोगना ही चाहिये। आपलोग फ़िजूल मुझे क्यों तंग करते हैं?

देखते-देखते सबकी आँखों में आँसू छलक आये। हरी ने हाथ जोड़कर सब से विदा ली। चलते हुए वीरेन्द्र बोला—आपने मुझको साथ न लेकर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है।

हरी ने पुलकित मुद्रा में उत्तर दिया—तुम अपराधी थे भी तो नहीं, मेरे ही कहने से इसमें पड़े थे!...अब माँ आदि को सम्हालने का भार मैं तुम और रामगोपाल पर सौंपता हूँ!

वीरेन्द्र ने अपना और सहदेव मामा का जुरमाना उसी दिन ट्रेज़री में दाख़िल कर दिया।

[१५]

धीरे-धीरे बारह वर्ष बीत गये।

संसार उसी तरह चल रहा था, लेकिन संसार की विचार-धाराएँ काफ़ी बदल गयी थीं। भारत ने स्वप्न देखकर तुरन्त उठ बैठने की चेष्टा की थी। नगर-नगर और गाँव-गाँव में स्वाधीनता का सुरभित पवन दोलन कर रहा था। जन-समुदाय के मन, वचन और कर्म में एक अभिनव उल्लास अपने आप समाविष्ट हो चला था। समस्त राष्ट्र नवजागरण से उत्थित होकर-होकर समय-समय पर अत्यधिक तरंगित हो उठता था। कारागृहों तक राष्ट्रीय साहित्य, सङ्गीत और काव्य-कला की चिरन्तन भावना ने छापा मारा था। जिन भूपालों को भारत का नाम स्मरण करने में संसार के नक़शे का अवलोकन करने का कष्ट स्वीकार करना पड़ता था, वे ताज़े-से-ताज़े संवाद-पत्र में सब से पहले भारत का ही नाम सर्वाधिक बड़े अक्षरों में देख-देखकर चकित हो उठते थे!

कुबेरपुर में उस समय रामगोपाल का एकमात्र राज्य था। रियासत कोर्ट-आफ़-वार्ड्स से छूट चुकी थी और सर्वाधिकार उसके हाथ में आ चुका था। विनोद और कान्ति को पढ़ाने के विचार से बड़ीबहू इटावा (ख़ास) में रहने लगी थीं। कृष्ण-गोपाल रुग्णावस्था में वहीं एक कमरे में चुपचाप पड़े रहते थे। गेहूँ का ज़रा सा दलिया और मूंग की दाल मात्र उनका आहार था। आधसेर से अधिक दूध भी वे पचा न सकते थे। अपने मकान से आकर सड़क पर फ़र्लांग-दो-फ़र्लांग तक लकड़ी टेककर घूम आना उनके लिए बहुत था।

कुबेरपुर में अब लड़कों और लड़कियों के अलग दो अपर-प्रायमरी स्कूल चल रहे थे। ज़िले में अनेक स्थानों में पर प्राय-मरी तथा मिडिल स्कूलों में शिक्षक का काम करनेवाले इस गाँव के व्यक्तियों की संख्या दो दर्जन हो चुकी थी। गाँव के बीच में जो गलियाँ ऊँची-नीची गन्दी रहा करती थीं, वे अब साफ़-सुथरी और समतल हो गई थीं। घरों के पास कहीं भी कूड़ा या पाँस का ढेर दृष्टि में नहीं आता था। ज़िला-बोर्ड की ओर से एक अच्छा औषधालय भी वहाँ हो गया था। लकड़ी का काम करनेवाले बढ़ई-मिस्त्रियों, खादी बुनने, मिट्टी के खिलौने बनाने और पत्थर पर नक़ासी का काम करनेवाले अनेक कुशल कारीगर वहाँ आकर बस गये थे। शाम को किसी मुहल्ले में रामायण की कथा होती, कहीं समाचार-पत्र-वाचन।

उधर केदार भी अपने गाँव को कुबेरपुर की तरह बनाने में लगा हुआ था। उसका विवाह हो गया था और उसके एक पाँच वर्ष का बच्चा भी था। उसके पिता का स्वर्गवास हो चुका था।

नगला भी अब बदल गया था। गिरधारीलाल का स्वर्गवास हो जाने के बाद बड़ीबहू अपने मैके चली गई थीं। वहीं वे अपने बच्चों को पढ़ाती-लिखाती थीं। छोटीबहू के भी दो बच्चे हो गये थे। कभी-कभी जब वह नन्दा का स्मरण करती, तो उसकी आँखें भर आती थीं। सुदूर अतीत का वह दिन उसे भूलता न था, जब उसके दादाजी (गिरधारीलाल) कानपुर के माघ-मेले से सपत्नीक लौटकर घर आये, तो दोनों-के-दोनों इतने ज़ोर से चिल्लाकर-चिल्लाकर रोये, जितने अपने पिता निरंजन बाबू के स्वर्गवास पर भी न रोये थे। पास-पड़ोस के अनेक स्त्री-पुरुष एकत्रित हो गये। बनवारी भी छोटीबहू को लेकर जा पहुँचा। निर्बाध रुदन के कारण बड़ी कठिनाई से यह जाना जा सका कि नन्दा गंगा में डूबकर सदा के लिए लोप गई !—कहीं उसके शव का भी पता न चला !

उस समय कोई कह उठा था—चलो, जो कुछ हुआ, एक तरह से, अच्छा ही हुआ। किसी तरह उसे स्वर्ग तो मिला।...किसी ने कहा था—ऐसी सुशील लड़की गाँव में दूसरी न थी। फिर भी बेचारी का भाग्य फूट गया था। चलो, इतना ही अच्छा हुआ कि किसी तरह उसको सद्गति तो मिली !—उसका धरम तो रह

गया ! कोई कहने लगा—अधिक मत रोओ बड़ेभैया, गंगामैया की गोद विधवा के लिए जीवित स्वर्ग है !

वीरेन्द्र और केदार ने जब यह संवाद सुना, तब वे इतने व्याकुल और व्यथित हो उठे कि केदार से तो कई दिनों तक खाना तक न खाया गया। वीरेन्द्र का आँसू ही बन्द न होता था।...केदार ने भाभी के संस्कार में कई-सौ रुपये ख़र्च किये थे।

यह सब भी काल की निरोध-हीन गति में मन्द होते-होते मिट गया था। हाँ, एक कसक इन हृदयों से अभी तक गई न थी। और वह थी हरो की स्मृति। रामगोपाल, वीरेन्द्र और केदार जेल में दो बार उससे मिल आये थे। पहली बार मिलने पर रामगोपाल ने बतलाया था कि बड़ेभैया का मैनेजर मार डाला गया और गोकुलचन्द की किसी ने नाक काट ली। रियासत कोर्ट-आफ़-वार्ड के हाथ में आगयी दूसरी बार जब वे मिलने गये थे, तब नन्दा के गंगा-वास करने का समाचार उसे दिया गया था। उस समाचार को पाकर हरी ने कुछ कहा नहीं था। उसकी आँखों से आँसू भी न निकले थे। उसका अवशिष्ट समाचार भी विस्तार से वह न पूछ सका था। इसका कारण था। वीरेन्द्र ने ठीक उसी समय उस बात की उसे सूचना दी थी, जब मिलने के समय का अंतिम क्षण समीप आ गया था; क्योंकि वह हरी की उस दशा को, जो इस संवाद को सुनकर होनी अनिवार्य थी, देख सकने का बल अपने हृदय में पा नहीं रहा था। अंतिम क्षण यह संवाद देकर वे लोग चल खड़े हुए थे।

वीरेन्द्र तो फिर हरी की ओर देख भी न सका था। हाँ, आगे चलकर केदार ने उसे बतलाया था कि उस समय हरी भैया की चेष्टा बहुत विकृत हो गई थी।...कारागार-प्रवास की अवधि बीत जाने के अनन्तर, निश्चित समय पर जब लोग हरी को लेने के लिए फ़तेहगढ़ जेल के फाटक पर पहुँचे, तो यह सुनकर अवाक् हो उठे कि उसे तो कल ही छोड़ा जा चुका है। ग़लती से एक दिन बढ़ गया था, पीछे उसे कम कर दिया गया। अब तक तो वह घर भी पहुँच गया होगा। आप लोग फ़िजूल भटके आकर।

किन्तु जेल से एक दिन पूर्व छूटकर हरी घर नहीं गया। कहाँ चला गया, यह भी किसी को कैसे मालूम होता!

इसके बाद अनेक दिन, मास और वर्ष आये और गये। परन्तु हरी क्या, उसी छाया भी कहीं किसी को देख न पड़ी।

× × ×

कानपुर में माघी पूर्णिमा का वह सोमवार का दिन था। भीड़ के कारण आम सड़कों पर घोड़ा गाड़ियाँ, ताँगों और इक्कों की कौन कहे, मोटर-लारियों और मोटरकारों तक का चलना मुश्किल हो गया था। शहर के चारों ओर से सहस्रों बैलगाड़ियाँ आई हुई थीं, जिन पर ग्रामीण स्त्री-पुरुषों का चपल हास तथा संगीत गूँज रहा था।

रमेशचन्द्र के यहाँ वीरेन्द्र, रामगोपाल और केदार एक दिन पूर्व ही आ गये थे।

प्रातःकाल उठकर वीरेन्द्र नित्यकर्म से निवृत्ति पाकर गंगा-स्नान के लिए चलने को था। रामगोपाल ने अपनी धोती तैलिया में लपेट-कर बगल में दबा ली थी। केदार भीतर चन्द्रमुखी को साथ ले चलने के लिए उसके बच्चे को गोद में लेकर बाहर की ओर आने को था। इसी समय बैठक में वीरेन्द्र रमेश की पुस्तकों की अलमारी खुली पाकर उसमें रक्खी हुई पुस्तकें उलटने लगा तो यकायक उसके हाथ में एक उपन्यास आ गया। भीतर का एक पृष्ठ खोलते ही उसकी आँखों के सामने विस्मयालोक फूट पड़ा; क्योंकि उसके एक ओर लिखा हुआ था—नन्दा।

उच्छ्वसित भावों से अपने को संयमित रखकर वीरेन्द्र ने तुरन्त भीतर जाकर केदार के आगे वही पृष्ठ खोलकर उसे दिखा दिया। साथ ही उसने कहा—यह पुस्तक मिश्रजी को मिली कहाँ से, यही जानने की जरूरत है।

केदार ने भी कहा—हाँ, पूछो तो सही।

रमेश उस समय भीतर अपने ख़ास कमरे में हाफ़पैण्ट पहन रहा था। बाहर बैठक में आते ही वीरेन्द्र ने जब वही प्रश्न किया, तो उत्तर में रमेश ने कहा—पुस्तक पर उसके अधिकारी का नाम तो लिखा है, देख न लो।

वीरेन्द्र ने कुछ आन्दोलित होकर पूछा—यही तो मैं जानना चाहता हूँ कि वह अधिकारी रहता कहाँ है?

रामगोपाल बड़े ध्यान से इस वार्तालाप को हृदयंगम कर रहा था।

केदार अत्यधिक उत्सुकता से कभी वीरेन्द्र और कभी रमेश के मुख की ओर ऐसा अधीर होकर देखने लगा, मानो उसकी आँखें उसके उत्तर पर ही लटक रही हों।

रमेश उन्मन होकर कहने लगा—वह किसी एक अत्यन्त सम्भ्रान्त कुल की महिला है। अत्यन्त दयनीय उसकी स्थिति है। उसका जीवन आँसुओं के अगाध में डूबा हुआ है। वह मूलगंज की एक गली में रहती है। मेरा उससे आज का नहीं, बहुत दिनों से परिचय है। लेकिन इस विषय में अधिक आशंकित होने का कोई कारण नहीं है।

वीरेन्द्र विस्मय में डूबकर, केदार की ओर दृष्टि करके, बोल उठा—यह बात क्या है केदारभाई! तुमतो कहते थे—भौजी गंगाजी में डूब मरी हैं।

केदार अत्यधिक उद्वेग में आप्लुत होकर कहने लगा—मैं क्या जानूँ—क्या बात है! मैं तो वही जानता था, जो मेरे पास एक कार्ड में लिखकर आया था।

"ओह! मैं नहीं जानता था, ये नगलावाले इतने नीच हो सकते हैं! मुझे अब उन लोगों का विश्वास नहीं हो रहा है। बार-बार मेरे मन में यही बात आती है कि कहीं यह नाम अपनी उन भौजी के हाथ का ही लिखा हुआ न हो।" अत्यधिक भावावेश में उसने कहा—"हम गंगा-स्नान करने न जायँगे, मिश्रजी। हमको आप इसी समय उसके यहाँ ले चलिये।

केदार बोला—हाँ, जीजाजी मेरा मन गंगा-स्नान में न लगेगा। इस रहस्य का उद्‌घाटन जब तक न हो जायगा, तब तक मैं अन्य कोई काम न कर सकूँगा।

रामगोपाल बोला—मैं भी साथ चलूँगा।

इसी क्षण रमेश ने कुछ प्रतिकूल भाव से कहा—ये सब व्यर्थ की बातें हैं। ऐसा भी कभी सम्भव हो सकता है ? चलना ही है, तो सायंकाल चलना ठीक भी होगा। इस समय जब सब लोग गंगा-स्नान की तैयारी कर चुके हैं; तब आप लोगों को यह एक नयी सनक सूझ रही है।

अत्यधिक उत्तप्त होकर भी संयत भाषा में वीरेन्द्र ने कहा—"यह कोई सनक नहीं है मिश्र जी, इसके भीतर एक जीवन का संहार छिपा हुआ है। मैंने पहले भी अनेक बार सोचा है; और आज भी मैं यही सोचता हूँ कि हरीभैया के विरक्त होकर विलुप्त हो जाने का मूल कारण चाहे जो हो, किन्तु इस घटना से उनका कोई सम्बन्ध न हो, यह हो नहीं सकता।

तदनन्तर वह मन-ही-मन सोचने लगा—जीवन में एक ऐसी भी स्थिति आती है, जब हम अपनी आशाओं के भग्न स्वरूप को देखकर स्थिर होकर रह नहीं सकते। हम सोचने लगते हैं कि यह सुख, यह वैभव, यह संसार, व्यर्थ है! भयानक स्वप्न देखने की स्थिति में जैसे हम चाहते हुए भी जब कुछ नहीं कर पाते, तब हमारी चेतना उस स्वप्न को ही भंग कर डालती है। वैसी ही

स्थिति मनुष्य के जीवन-स्रोत की है। जब वह सूख जाता है, तब वह अपने संसार की परवा नहीं करता।

फिर कहने लगा—हरीभैया ने भी हम लोगों को त्याग दिया है, सो उनके इस उत्सर्ग में भी कोई रहस्य अवश्य है। एक घटना के बाद जब दूसरी घटना अनायास हो जाती है, तब तत्त्वानवेषी को रहस्योद्घाटन करने में जो सुविधा मिलती है, उसे अनायास खो देना हम बहुत अनिष्टकर समझते हैं।

रामगोपाल बोला—चलना तो हम को जरूर चाहिये, लेकिन हरीभैया के सम्बन्ध में जो सन्देह तुमने किया है, मैं उससे सहमत नहीं हूँ। उनके सम्बन्ध में इस तरह की आशंका करना उनका अपमान करना है।

वीरेन्द्र कह उठा—तुम अभी इस बात के मूलाधार तक पहुँच नहीं सके हो, भाई रामगोपाल। अपमान की बात इसमें कोई नहीं है। हरीभैया को तुम पहचान न सके थे। मैं उनके हृत्तल तक पहुँच पाया था।

रमेश बाबू कपड़े पहनकर तैयार हो गये थे। बोले—तो क्या तै रहा? गंगा-स्नान के लिए चलने के बजाय सचमुच क्या हमें मूलगंज चलना होगा!

वीरेन्द्र ने कहा—हाँ, मिश्रजी; चलिए। मेरा एक-एक क्षण दुर्निवार आशंकाओं से इतना असह्य ऐसा दुर्वह हो उठा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।

केदार से न रहा गया। बोला—तुम्हीं चले जाओ वीरेन्द्र। मुझे न ले चलो। जबसे तुमने यह चर्चा, छेड़ दी है, तब से मेरा जी जाने कैसा हो रहा है!

"अच्छी बात है। तो तुम यहीं रहो। हम लोग ठीक बात का पता लगाकर सबसे पहले यहाँ घर पर ही आयेंगे। वीरेन्द्र के कहने पर रामगोपाल बोला—मैं तो जाऊँगा।

मकान से उतरकर, नीचे सड़क पर आकर, तीनों पास ही खड़े एक ताँगे पर बैठ गये।

रमेश बाबू ताँगेवाले से बोले—मूलगंज चलो।

[१६]

गली में बड़ी भीड़ थी। लोग दूकानों पर चढ़कर खड़े हो गये थे। भजन सुनकर किसी-किसी का हृदय रो पड़ने के लिए भीतर से उमड़ने लगा था। खञ्जड़ी हाथ में लेकर बजाता हुआ सूरदास मस्त होकर गा रहा था—करमगति टारे नाहिं टरी।

भजन सुनकर किसी ने मिठाई का टुकड़ा दिया, किसी ने पूड़ी, किसी ने पाई, किसी ने पैसा। फिर सभी लोग बिखरकर अपने-अपने काम में लगे।

माया की नौकरानी भी वहीं खड़ी हुई थी। कोई चीज़ ख़रीदने आयी थी। वह सूरदास के पीछे हो ली। मकान निकट आने पर उसने कहा—इधर हमारे साथ चलो सूरदास। आपको सरकार ने याद किया है।

सूरदास बोल पहचान गया। प्रसन्न मुद्रा में बोला—माया ने बुलाया है!

नौकरानी ने कहा—हाँ।

"क्या कहा था उसने ?" पलक खोलते बन्द करते हुए पूछा।

"आज तो कुछ नहीं कहा। लेकिन, महीनों से कह रक्खा है, जहाँ कहीं भी मिलें, साथ में जरूर लेते आना।...आप इधर बहुत दिनों से आये भी नहीं।"

"हाँ, नहीं आ सका।...तो उधर ही महीनों पहले कहा होगा। फिर बाद में नहीं कहा क्यों ?" कहते-कहते उसका हृदय मथने लगा।

"क्या बताऊँ सूरदास ? मालूम नहीं, उनको क्या हो गया है! आप की याद कर-कर के बहुत रोती हैं। कुछ दिनों से तबियत भी ख़राब रहती है।"

"रोती हैं!—तू कहती क्या है!!" शब्दों में जैसे एक हाहाकार हो!

"ठीक ही कहती हूँ सूरदास! झूठ भला मैं क्यों कहूँगी ?... और कहूँगी भी तो तुमसे ?"

"अच्छा, उससे कहना होगा कि वह रोये नहीं। रोने का क्या काम है ?" कहते-कहते सूरदास का कण्ठ बदल गया। स्वर विकृत होकर मन्द, अतिशय मन्द पड़ गया। पैर भारी होकर ज़मीन से उठने से इनकार करने लगे।

"चले आओ सूरदास। बस, आगे ही मकान है।" नौकरानी बोली।

सूरदास पीछे रह गये थे। नौकरानी लौटकर उनका डंडा पकड़कर लिवा लायी।

भीतर पहुँचने पर माया ने दूर से ही कह दिया—'आओ सूरदास! बहुत दिनों में सुधि ली।...पुरुष बड़े निर्मोही होते हैं।' फिर उठकर हाथ पकड़कर गद्देदार फ़र्श पर अपने पास ही बिठा लिया। एक क्षण तक किसी ने कुछ नहीं कहा। तब माया बोली—सवेरे का वक्त है। जलेबियाँ ताज़ी मिलेंगी। थोड़ी खालो, तो और बातें हों।

"जैसी तुम्हारी इच्छा माया। मुझे कोई एतराज़ नहीं है।" सूरदास ने विकार-हीन भाव से कहने की चेष्टा की, पर उसकी विमनस्कता उसके स्वर से प्रकट ही हो गयी।

नौकरानी तब तक गयी न थी। माया ने कहा—पाव भर जलेबियाँ ताज़ी ले आना।

नौकरानी चली गई।

मुसकराती हुई माया इसी समय कहने लगी—उस दिन जिस माँग की बात को पूछ-पूछकर हार गये थे, आज वही बात मैं तुम्हें बताऊँगी सूरदास। लेकिन बताने से पहले एक बार फिर पूछ लेना चाहती हूँ, जिसमें पीछे फिर मुझे पछताना न

पड़े। बोलो सूरदास, अगर तुम्हारे पास वह चीज़ निकल आयेगी, तो इनकार तो न करोगे ?

"वे आदमी दूसरे क़िस्म के होंगे माया, जो एक बार कहकर बदल जाते हैं। सूरदास उस तरह का आदमी नहीं है।" उद्वेलित होकर सूरदास ने कहा।

माया बोली—यह मैं जानती हूँ। ऐसी बात न होती, तो मैं तुमसे कुछ माँग भी न सकती।

माया बहुत संयम से वार्तालाप कर रही है। नहीं तो इसी बात के अन्तिम छोर को लेकर उसका कण्ठ किसी तरह प्रकृत रह नहीं सकता था।

"तो कान खोलकर सुन लो सूरदास—मैं तुम्हीं को चाहती हूँ। तुम मुझे वेश्या समझकर मुझ से घृणा करते रहे हो। लेकिन आज मैं तुमसे साफ़तौर से कह देना चाहती हूँ कि मैं वेश्या नहीं हूँ। मैं एक स्वप्न की रखेली हूँ। आज जब जान पड़ा है कि मेरा स्वप्न साकार होगया है, तब मैं जाग पड़ी हूँ। नहीं तो मेरी स्थिति में कोई नारी जीवित रह सकती है, मैं ख़ुद इस बात पर विश्वास नहीं करती। किस-किस तरह मैंने अपने आपको सुरक्षित रक्खा है, कह नहीं सकती। बोलो सूरदास, मैं तुम्हारा उत्तर चाहती हूँ।" माया ने सजलनयन होकर आर्द्र कण्ठ से कहा।

"एक बात—केवल एक बात मैं जानना चाहता हूँ माया।"

सूरदास ने अत्यधिक अधीर होकर पूछा—"जीवन खोकर भी कोई व्यक्ति जीवन पा सकता है ?"

"पा सकता है सूरदास। नवजीवन की प्राप्ति इसी प्रकार होती है। दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण सब लोग इस बात को समझ नहीं पाते; परन्तु आश्चर्य की बात है कि तुम इतनी साधारण बात को भी समझ न सके।"

इसी समय नौकरानी जलेबियों से भरा हुआ दोना माया के सामने रखकर एक ओर चल दी।

माया ने उस दोने को ज्यों-का-त्यों सूरदास के आगे रखकर कहा—लो, खाओ, सूरदास।

किन्तु माया के इतना कहने के पूर्व ही सूरदास वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े!

जलेबियों के दोने को अलग एक ओर रखकर माया ने सूरदास के सिरहाने की ओर एक तकिया रखकर ऊपर एक सफ़ेद चादर उढ़ा दी। फिर तुरन्त नौकरानी को बुलाकर कहा—जा, डाक्टर मिश्रा को तो ले आ!

डाक्टर मिश्रा पास ही रहते थे। तीन मिनट में ही आगये। परीक्षा करने के बाद बोले—चिन्ता की कोई बात नहीं है। एक ख़ूराक दवा पी लेने से जल्दी होश में आ जायँगे। Heart पर Suddenly Shock लगने से यह मूर्छा आ गई है। अगर

जल्दी होश न आयेगा, तो फ़ीवर भी आ सकता है। लेकिन घबड़ाने की कोई बात नहीं है।

माया ने चार रुपये मिश्रजी की फ़ीस देकर उन्हें विदा किया।

नौकरानी जब भीतर चली गई, तब अश्रुपात करती हुई नन्दा हरी के केशों पर हाथ फेरती हुई, मन ही मन कहने लगी—आज बारह वर्ष बाद जब तुमको पासकी हूँ, तब इस तरह धोखा देकर तुम किसी तरह कहीं जा न सकोगे !—यह मैं जानती हूँ। उस दिन जो चले गये थे, उतना ही बहुत था। तुमने सोचा होगा, भौजी मर गई है; लेकिन तुमने यह क्यों न सोचा कि अपने जिस प्रतिनिधि को तुम मुझमें छोड़ गये थे, उसे पाकर मैं मर ही कैसे सकती थी !

हरी के मस्तक और सिर पर हाथ फेरते हुए नन्दा के अश्रु उसके भाल और पलकों पर भी जा पड़े। तब दो मिनट में ही हरी अचानक उठ बैठा। माया बोली—तुम्हारी तबियत ठीक नहीं जान पड़ती। चलो, उठो; उधर चलकर आराम करो।

अन्दर ले जाकर नन्दा ने हरी को एक पलँग पर लिटा दिया। खादी का धोती-कुर्ता मँगवाकर उसके कपड़े भी बदल दिये। वहीं वह आप भी नीचे चटाई पर बैठ गई।

क्षण भर तक फिर किसी ने कुछ नहीं कहा। हरी के भीतर का दुःख रह-रहकर उभड़ने लगा। एकदम से सिसकते हुए वह

बोला—अगर मैं ऐसा जानता, तो अपनी इन आँखों को किसी तरह न फोड़ता—किसी तरह नहीं ! तुम्हें खोकर, फिर इन आँखों से, सोने का यह संसार, मैं कैसे देखता ! अः —।

"लेकिन मैं जानती थी कि एक-न-एक दिन मैं तुम्हें अवश्य पाऊँगी।...बहुत दिन की बात है, पहले ही दिन दूर से तुम्हारा दर्द-भरा भजन और उससे अधिक उत्पीड़क कण्ठ-स्वर सुनकर मुझे संदेह हो गया था ! लेकिन अपनी स्थिति का परिचय देते हुए मेरी जिह्वा जैसे तालू से चिपक जाती थी ।" अश्रु-विगलित स्वर में नन्दा ने कहा।

हरी कुछ स्थिर होकर बोला—बच्चे का क्या हुआ था ?

"हास्पिटल में हुआ था ।...ख़र्च के लिए मेरे पास उस समय काफ़ी रुपये थे। कुछ तो भैया ने ही मेरे पास रख छोड़े थे।...सात वर्ष का हो जाने पर मैंने उसे गुरुकुल में, पढ़ने को, भेज दिया था। अब तो वह कुछ और बढ़ गया होगा। मैंने उसका नाम अशोक रक्खा है।"

"ओह ! तुम मेरे निकट ज़रा यहाँ आजाओ। मैं तुम्हें गले से लगा लूँ ! मेरे उजड़े हुए संसार को तुमने इस तरह पल्लवित कर रक्खा है रानी ! तुम मेरी शकुन्तला हो !"

हरी कहते-कहते फिर आँसुओं से खेलने लगा !

भावावेश में नन्दा उठना चाहती ही थी कि इसी समय

नौकरानी ने दवा की शीशी देते हुए कहा—रमेश बाबू आये हैं। साथ में दो बाबू और हैं।

नौकरानी वहाँ से हटकर अलग एक ओर चली गई।

हरी ने पूछा—ये रमेशबाबू कौन हैं?

नन्दा बोली—जिनके विवाह में तुमने अपनी माया को पाया था।

"साफ़ साफ़ बता दो माया। इस समय मैं जल्दी में ज्यादा सोच न सकूँगा।...तुम्हारा मतलब उन रमेशचन्द मिश्र से तो नहीं है, जिनके साथ चन्द्रमुखी का विवाह हुआ था?" हरी ने पूछा।

"हाँ-हाँ, वे ही रमेश बाबू हैं। मेरे बड़े भक्त हैं। उन्हीं की कृपा से मैंने इतने दिन यहाँ व्यतीत किये हैं। लेकिन अभी तक उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि मैं कौन हूँ।" नन्दा कुछ उल्लसित मुद्रा में बोल उठी।

"तो उन्हें यहाँ क्यों बुलाती हो? लेकिन बुलाती ही हो, तो उन्हें मेरा परिचय न देना।" हरी इतना ही कह पाया था कि नन्दा बोली—अब इतना लजाओगे, तो संसार में कैसे चलोगे?

"तुमने चूड़ियाँ पहन रक्खी हैं कि नहीं—और पैरों में बिछुए, माँग में सिंदूर? उफ़! नेत्रों की हीनता इस समय मुझे बहुत खल रही है। बताओ माया, मैं अब भी तुम्हें माया ही कहूँगा।"

नन्दा ने उठकर, उसका हाथ पकड़कर, स्पर्श से उसे सब कुछ दिखला दिया। जिस समय नन्दा अपनी माँग का सेंदुर दिखलाने लगी। उसी समय हरी ने बढ़कर उसके पुंडरीकशुभ्र मुख को चूम लिया!

मदिर नन्दा बोली—यह क्या कर रहे हो?

हरी दर्द-भरे प्यार से मुसकराते हुए बोला—जानती नहीं हो, आज मेरे सौ ख़ून माफ़ हैं!

फिर उसने उसी समय कहा—कैसी विचित्र बात है! जिन आँखों को रखते हुए मैंने तुमको खो दिया था, उन्हीं आँखों को खोकर मैं तुम्हें पा गया!

नौकरानी फिर आकर बोली—वे लोग जल्दी ही मिलना चाहते हैं।

नन्दा ने कहा—आध सेर गरम दूध ले आ। मैं उधर चलती हूँ।

नौकरानी लौट गयी। नन्दा बोली—दूध पी लेना। थोड़ी देर बातें कर लेने के बाद मैं उन्हें इधर ही ले आऊँगी।

दूर से ही देखकर वीरेन्द्र ने पहचान लिया। झटसे उठ कर नन्दा का चरण स्पर्श करके बोला—ओह! यहाँ रहकर भी भौजी तुमने अपनी, और साथ ही हमारे गौरव की, रक्षा की। काजल की कोठरी में आकर भी तुमने अपने आपको उस कलुष से इतना निर्लेप रक्खा।

रामगोपाल को अब और कुछ भी जानने की जरूरत न रह गयी। उसने भी नन्दा का चरण-स्पर्श कर लिया।

वीरेन्द्र फिर बोला—मुझे बताने की कुछ भी जरूरत नहीं है भौजी! मिश्रजी से मैं सभी कुछ जान चुका हूँ। आश्चर्य है, जो वे तुम्हें पहचान न सके और तुमने भी अपने को अन्त तक प्रकट होने नहीं दिया। तुम मानवी नहीं, देवी हो!—तभी तो हम लोग तुम्हारा मूल्य नहीं आँक सके थे। ओह! तुम कितनी दुर्बल हो गई हो! बीमार हो क्या?

नन्दा बोली—हाँ बीमार ही समझ लो वीरेन्द्र। एक लक्ष्य तक अपने को पहुँचाने में जीवन की क्या गति होती है, कैसी अटूट साधना से अपना आराध्य मिलता है, यह जान लेने पर भी आज यही कहना पड़ता है कि एक कल्पित स्वप्न को साकार रूप में देखने की ज़िद भी मन की एक बीमारी ही है। अन्तर केवल इतना है कि अन्य बीमारियों में हम कुछ खो बैठते हैं, किन्तु इसमें जितना खोते हैं, उससे कई गुना, एक साथ प्राप्त भी कर लेते हैं। आज मैंने भी तुम्हारे उन भैया को पा लिया है वीरेन्द्र!

"किसको? हरी भैया को?? क्या वे आ गये हैं!—क्या वे यहीं कहीं हैं!! मुझे तुरन्त उनके पास ले चलो" पागलों के-से भयानक स्वर में वीरेन्द्र बोल उठा।

रामगोपाल की आँखें भर आयीं।

नन्दा अगम गम्भीरता से बोल उठी—घबड़ाओ मत वीरेन्द्र। शान्त रहो। उनकी तबियत ठीक नहीं है। आज ही अभी-अभी वे आये हैं। भीतर लेटे हुए हैं। जो कुछ कहना या पूछना हो, शान्ति के साथ पूछना। अभी-अभी वे एक बार मूर्छित हो चुके हैं! लेकिन ज़रा देर ठहर जाना ही ठीक होगा। इसके सिवा एक काम भी करना है।...अशोक को तार देना है कि उसके पिता आगये हैं। वे कुछ अस्वस्थ हैं और उसे देखना चाहते हैं।

रमेश बोले—वीरेन्द्र वहीं जाकर उसे लेता आयेगा।

नन्दा ने कहा—वह अकेला आप ही चला आता है। परसाल भी तो आया था। सीधा तुम्हारे पास ही तो आया था। किसी के जाने की जरूरत नहीं है।

रमेश बाबू ने तार लिखकर रामगोपाल से कहा—ताँगेवाले को दे दो, वह .खुद लगा आयेगा। पहचान का आदमी है।

रामगोपाल ने सड़क पर आकर ताँगेवाले के हाथ में तार का क़ागज़ देकर कहा—यह तार तो लगा आओ, झट से।

ताँगेवाला जब रुपया और तार का क़ागज़ लेकर चला गया, तो रामगोपाल फिर मकान के भीतर आ गया।

सब लोग हरी के पास जा चुके थे।

नौकरानी ने कहा—अन्दर चलिए।

अन्दर पहुँच कर द्वार पर ही खड़े होकर रामगोपाल ने देखा—एक पलँग पर लेटे हुए हैं। बढ़े हुए रुक्ष केश हैं। आँखें क्त हैं। बदन सूख गया है। दाढ़ी बढ़ गयी है। किसी तरह इचाने नहीं जाते। चुपचाप लेटे हुए धीरे-धीरे सिसक-सिसक-र रो रहे हैं! वीरेन्द्र उनके चरणों के पास बैठा हुआ कह हा है--

"कौन कहता है कि तुम्हारी यह तपस्या व्यर्थ गयी है? कौन है जो ज़बान खोलकर कह सके कि तुम्हारी हार हुई है! प्रपने गाँव में एक बार चलकर देखो, तो पता चले कि वह केवल नाम का कुबेरपुर नहीं है—अपने प्रान्त में उसकी शान का कोई गाँव न होगा। यह सब तुम्हारे ही रोंपे हुए पौदे का फल है। गाँव का बच्चा-बच्चा तुम्हारे नाम को देवता की तरह स्मरण करता है! किसी व्यक्ति की इससे बढ़कर विजय और क्या होगी?...रह गयी बात समाज की। सो वह तो शक्ति का गुलाम है। आज जब हममें शक्ति है, तब वह हमारी मुट्ठी के भीतर आ गया है; हमारे इशारे पर नाचता है—हम से फूट-कर जायगा कहाँ?

इसी समय रामगोपाल भीतर आकर हरी के चरणों की [ल अपने भाल पर धारण करके पास ही बिछौने पर बैठ गया।

हरी ने पूछा—यह कौन आया?

वीरेन्द्र बोला—रामगोपाल है, भैया।

तब रुदन से भरे अस्थिर कण्ठ से हरी ने भावावे पूछा—बताओ रामगोपाल, अम्मा किस तरह से हैं ?

सजलनयन होकर रामगोपाल बोला—अच्छी तरह भैया । कभी-कभी आप ही आप बकने लगती हैं । हैं—मेरा हरी आ रहा है, आ रहा है—वह आया, वह अ फिर निराश होकर सुधि-बुधि-हीन हो जाती हैं ! दिन तक खाना नहीं खातीं। ऐसा दिन नहीं जाता, तु यदि दो-चार बार न कर लेती हों । रोते-रोते आँखो ज्योति क्षीण हो गई है। शरीर सूखकर काँटा हो गया है। पड़ता है, तुम्हारे आने का विश्वास हो उनको जीवित हुए है।

रमेशबाबू वीरेन्द्र की ओर देखकर बोले—अब इन स लेकर हमको बँगले पर चलना चाहिये।

वीरेन्द्र बोला—तार लगाकर ताँगेवाला आ जाय, तब।

हरी ने पूछा—तार कहाँ को दिया गया है ?

रमेशबाबू ने बतलाया—अशोक को बुलाया है।

इसी समय नन्दा ने जलेबियों का भरा दोना सब के स रख कर कहा—जलपान कीजिये।

तीसरे दिन खादी के भव्य वेष में, अशोक और नन्दा को लिये, जब हरी, वीरेन्द्र और रामगोपाल के साथ, अपने घर आँगन में जाकर खड़ा हो गया, तो बोला—"कहाँ हो अम्मा ?